सम्पादकीय

नयी शिक्षा नीति 2020 : आपदा में विपदा

कोरोना महामारी के दौर में जनता की समाजिक दूरी और अपने-अपने घरों में बन्द होने का फायदा उठाकर केन्द्र की भाजपा सरकार ने कई जनविरोधी फैसले लिये। श्रम कानूनों में बदलाव, कृषि क्षेत्र को सटोरियों और कालाबाजारियों को सौंपने वाला अध्यादेश और सार्वजनिक क्षेत्र को कौड़ियों के मोल नीलामी सहित इन तमाम कारगुजारियों का मकसद देशी-विदेशी पूँजीपतियों के मुनाफे में बेशुमार इजाफा और मेहनतकश आबादी की बदहाली को और अधिक बढ़ाना है। भाजपा सरकार की नयी शिक्षा नीति 2020 भी इसी दिशा में उठाया गया अगला कदम है। सरकार और पूँजीपतियों के लिए यह आपदा में अवसर है, लेकिन आम जनता के लिए यह एक विपत्ति है, विनाशकारी फैसला है।

केन्द्रीय मंत्रिमण्डल ने 29 जुलाई को नयी शिक्षा नीति 2020 का मसविदा मंजूर किया। सरकार के मुताबिक इसका लक्ष्य 2040 तक "भारत को वैश्विक ज्ञान महाशक्ति" बनाना है, हालाँकि यह कब लागू होगा इसके लिए कोई समय निर्धारित नहीं किया गया है। इसमें 2035 तक सकल नामांकन अनुपात का लक्ष्य रखा गया है। साथ ही विदेशी विश्वविद्यालयों को भारत में कैंपस स्थापित करने की अनुमति, प्राथमिक शिक्षा से ही छात्रों को परम्परागत जातिगत पेशों जैसे बढ़ई, माली, कुम्हार, लोहार, शिल्पकार इत्यादि का व्यावसायिक प्रशिक्षण, नियमित स्कूली शिक्षा की जगह ओपेन स्कूल, दूरस्थ शिक्षा और ऑनलाइन पढ़ाई का विकल्प, उच्च शिक्षा संस्थाओं को सरकारी अनुदान की जगह कर्ज देने, निजी शिक्षण संस्थाओं को सरकारी नियन्त्रण से मुक्त करने, 10+2 की मौजूदा स्कूली पाठ्यक्रम संरचना की जगह 5+3+3+4 वर्षीय शैक्षणिक ढाँचा बनाने जैसे कई बदलाव किये गये हैं।

इस नयी शिक्षा नीति को राजीव गाँधी की नयी शिक्षा नीति 1986 की जगह लाया गया है। निश्चय ही इसमें 1986 की शिक्षा नीति की निरन्तरता और परिवर्तन दोनों ही पहलू देखे जा सकते हैं जो पिछले 35 सालों में अर्थव्यवस्था में हुए भारी बदलावों के अनुरूप हैं। आजादी के बाद से ही भारत के शासकों ने अपनी विशिष्ट पूँजीवादी व्यवस्था को चलाने वाले कारिन्दे तैयार करने के लिए समय-समय पर शिक्षा नीति में बदलाव किये। इस पूरे इतिहास की चर्चा करना यहाँ सम्भव नहीं, लेकिन राजीव गाँधी के दौर की आर्थिक नीतियों के साथ मौजूदा शासकों की आर्थिक नीतियों की तुलना करें तो यह स्पष्ट हो जाएगा कि इस नयी शिक्षा नीति की जरूरत क्यों आ पड़ी और इसमें कौन-कौन से बदलाव किन कारणों से किये गये हैं।

यह सर्वविवादित है कि 80 के दशक तक आजादी के बाद शुरू हुई नेहरू की आत्मनिर्भर आर्थिक विकास और आयात प्रतिस्थापन की नीति का दिवाला निकल गया था। विदेशी तकनीक और विदेशी पूँजी पर निर्भरता की ओर पहला कदम राजीव गाँधी ने ही बढ़ाया था, जब खुले दरवाजे की आर्थिक नीति के तहत बहुराष्ट्रीय निगमों से गठजोड़ करने और विश्व बैंक के कर्ज के भरोसे भारत को इक्कसवीं सदी में ले जाने का नारा दिया गया था। 1985 में प्रधानमंत्री राजीव गाँधी ने शिक्षा मन्त्रियों के सम्मेलन में अपनी भावी नीतियों का स्पष्ट शब्दों में संकेत किया था-- "हम स्वयं को शेष दुनिया से अलग करके नहीं रह सकते... हम पुरानी तकनीक पर निर्भर नहीं रह सकते, क्योंकि यह हमारे लिए अधिक खर्चीली है। और जब हम अपनी पुरानी तकनीक को देखते हैं, तो मामला यह नहीं रह जाता कि इससे कितने लोगों को रोजगार मिलता है और कितने लोग बेरोजगार रह जाते हैं, बल्कि मुद्दा यह है कि लागत के अनुपात में उत्पादकता कितनी है।"

देशी-विदेशी पूँजी के गठजोड़ की अपनी आर्थिक नीतियों के अनुरूप ही राजीव गाँधी की नयी शिक्षा नीति समान, सार्वभौमिक और राज्य सम्पोषित शिक्षा की वचनबद्धता से किनारा करने की नीति थी। हालाँकि विदेशी पूँजी और तकनीक पर निर्भरता का परिणाम पाँच वर्षों के भीतर ही सामने आ गया, जब देश कर्ज-जाल में बुरी तरह फँस गया और विदेशी मुद्रा भण्डार की जरूरतों को पूरा करने के लिए चन्द्रशेखर सरकार को विदेशी बैंक में सोना गिरवी रखना पड़ा। 1991 में राव-मनमोहन की सरकार ने विदेशी पूँजी और तकनीक पर निर्भरता वाली राजीव गाँधी की आधी-अधूरी आर्थिक नीतियों को अंजाम तक पहुँचा दिया, जब नयी आर्थिक नीति के नाम पर उदारीकरण, निजीकरण और वैश्वीकरण की साम्राज्यवादपरस्त नीतियों को पूरी तरह अंगीकार कर लिया। तभी जाकर राजीव गाँधी की नयी शिक्षा नीति भी सही मायने में नयी अर्थव्यवस्था के साथ दाँते और पेंच की तरह सेट हो गयी और थोड़े बहुत फेरबदल के साथ मूलतः उसे ही आज तक लागू किया जाता रहा।

नवउदारवादी नीतियाँ भले ही कांग्रेस के शासनकाल में अपनायी गयी हों, लेकिन सच्चाई यह है कि इसे लागू करने के मामले में भाजपा उससे कहीं ज्यादा मुस्तैद रही है। बाजपेयी सरकार के दौरान निजीकरण की रफ्तार तेज करने के साथ-साथ सार्वजनिक क्षेत्र के उद्यमों की नीलामी के लिए एक नये मंत्रालय

'विनिवेश मंत्रालय' का ही गठन कर दिया गया था। जिन नीतियों को मनमोहन सिंह जनान्दोलनों के दबाव में हिचकते सँकुचाते लागू करते आ रहे थे, उन्हे मोदी सरकार ने बुलेट ट्रेन की रफ्तार से लागू किया। यह तथ्य पिछले 6 साल की घटनाओं पर एक सरसरी निगाह डालने से ही स्पष्ट हो जाएगा। कांग्रेसी जिन क्षेत्रों में विदेशी पूँजी निवेश का अनुपात धीरे-धीरे बढ़ा रहे थे, उन्हें मोदी सरकार ने सत्ता में आने के तत्काल बाद सौ प्रतिशत तक पहुँचा दिया। सिंगल ब्राण्ड खुदरा व्यापार, ऑटोमोबाईल, एयरपोर्ट, रेलवे, एयरलाइन्स, नॉन बैंकिंग फाइनेन्स कम्पनी और यहाँ तक कि रक्षा क्षेत्र में भी सौ प्रतिशत तक विदेशी पूँजी निवेश की इजाजत दे दी। दूरसंचार, खनिज, रेलवे, हवाई अड्डे, अस्पताल, लोकनिर्माण, कृषि विपणन, बीमा सहित अर्थव्यवस्था के तमाम क्षेत्रों में सार्वजनिक उद्यमों के विनाश की कीमत पर निजी पूँजीपतियों को भरपूर बढ़ावा दिया गया। इस दौरान शिक्षा का निजीकरण, उच्च शिक्षण संस्थानों में भारी फीस वृद्धि, शिक्षा बजट और अनुदान में कटौती, पाठ्यक्रमों से प्रगतिशील जनतान्त्रिक मूल्यों वाले पाठ्यक्रमों को हटाने, अकादमिक स्वायत्तता और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता पर अंकुश लगाने जैसे कदम भी उठाये गये।

शिक्षा के व्यवसायीकरण की दिशा में एक निर्णायक मोड़ था विश्व व्यापार संगठन (डब्ल्यूटीओ) के साथ शिक्षा के व्यापार पर भारत सरकार की सहमति। दिसम्बर 2015 में डब्ल्यूटीओ की नैरोबी में हुई मंत्रीस्तरीय बैठक में मोदी सरकार ने सेवाओं के व्यापार पर आम सहमति (गैट्स) के तहत उच्च शिक्षा, चिकित्सा, बीमा, भौतिक विज्ञान, मानविकी में शोध इत्यादि को विश्व व्यापार के अधीन लाने के प्रस्ताव पर आत्मसमर्पण कर दिया। 1994 में डब्ल्यूटीओ की स्थापना के बाद से ही इस मुद्दे पर लगातार वार्ताओं का दौर चलता रहा, लेकिन दो दशकों तक भारत सरकार ने इस पर सहमति नहीं दी थी। हर कीमत पर विदेशी पूँजी के लिए लालायित मोदी सरकार ने न केवल इस समझौते पर दस्तखत किया, बल्कि शिक्षा, चिकित्सा और अन्य सेवाओं में प्रत्यक्ष विदेशी निवेश को बढ़ावा देने के लिए अपनी नीतियों में काफी बदलाव किये। **देशी-विदेशी पूँजी के हित में डब्ल्यूटीओ से बँधने के बाद, अब इस नयी शिक्षा नीति में उन्हीं प्रावधानों को शब्दाडम्बर की आड़ लेकर 'देश हित में उठाये गये कदम' और 'राष्ट्रीय नीति' के आवरण में सजाकर पेश किया गया है।**

नयी शिक्षा नीति के समर्थकों की तो बात ही क्या, इसके अधिकांश आलोचक और शिक्षा की दुर्दशा पर आँसू बहाने वाले लोग भी जाने-अनजाने इस बुनियादी सच्चाई को नजरंदाज करते हैं कि डब्ल्यूटीओ के सामने समर्पण करने के बाद से ही जिस तरह भारतीय शासक वर्ग ने आर्थिक नीतियों के निर्धारण में अपनी सम्प्रभुता और स्वतंत्रता गवाँ दी, वही स्थिति गैट्स समझौते से बँधने के बाद शिक्षा नीति की है। **इस नयी शिक्षा नीति के कुछ सतही और हाशिये के मुद्दों को छोड़ दें, तो मूलतः इस नीति के निर्माण में देश के शिक्षाशास्त्रियों, अकादमिक विद्वानों या जन-प्रतिनिधियों की कोई खास भूमिका नहीं है। उनका सारा परिश्रम केवल गैट्स समझौते के दायरे में रहते हुए इसे लोकप्रिय जुमलों और लुभावने शब्दजाल में प्रस्तुत करने में ही लगा है। देश की भावी पीढ़ी का निर्माण करना और उसका सर्वांगीण विकास करना अब सिर्फ कहने की बातें हैं, जबकि इस शिक्षा नीति का असली उद्देश्य देशी-विदेशी पूँजीपतियों का हित साधना है।** पूँजी के वैश्वीकरण के इस दौर में विश्व बाजार की शक्तियाँ ही असली नीति निर्धारक, नियंता और नियामक हैं। गैट्स समझौते पर दस्तखत करने के बाद शिक्षा नीति बनाने में सरकार की भूमिका नाममात्र की ही रह गयी है। उसकी भूमिका शिक्षा के व्यवसायियों के लिए सुविधा मुहैया कराने वाले (फैसिलिटेटर) तक सीमित रह गयी है। मोदी की तुकबन्दी "मिनिमम गवर्मेन्ट, मैक्सिमम गवर्नेन्स" का अभिप्राय भी यही है। 'लेवेल प्लेइंग फील्ड' के नाम पर सरकार का काम अब शिक्षा क्षेत्र में पूँजी लगाने वालों को सभी तरह के नियन्त्रणों से मुक्त करना, मनमाने तरीके से उन्हें अपना व्यापार चलाने और अकूत मुनाफा बटोरने के लिए जरूरी सुविधाएँ प्रदान करना ही रह गया है।

गैट्स समझौते की शर्त के आधार पर बनायी गयी इस शिक्षा नीति के परिणामस्वरूप अब सबके लिए शिक्षा के समान अवसर जैसी संवैधानिक जिम्मेदारी और सामाजिक न्याय जैसी बातों का कोई अर्थ नहीं रह गया। राष्ट्र की सम्प्रभुता सिर्फ कहने की बात है, आत्मनिर्णय का वास्तविक अधिकार देशी-विदेशी थैलीशाहों के हाथों में चला गया है। निस्संदेह, शिक्षा को व्यापार बनाने और सबके लिए सस्ती और सर्वसुलभ शिक्षा मुहैया करने के बीच छत्तीस का सम्बन्ध है। **शिक्षा के व्यवसायियों, खासकर विदेशी पूँजी निवेशकों के लिए 'खेल का समतल मैदान' तैयार करने का मतलब है शिक्षा के बाजारीकरण में आनेवाली बाधाओं को हटाना, जिसमें सरकारी अनुदान और सहायता बन्द करना, छात्रवृति और आरक्षण को समाप्त करना, सस्ती फीस वाले सरकारी संस्थानों में भारी फीस बढ़ोतरी या उन्हें निजी पूँजीपतियों के हवाले करना। शिक्षा के व्यापार में लगे देशी-विदेशी व्यापारियों के लिए महँगी फीस वसूलने, कम वेतन पर अस्थाई शिक्षकों की भर्ती करने और हर तरह के सरकारी नियन्त्रण और हस्तक्षेप से मुक्त होने की शर्त अनिवार्य है।** यह भी गौरतलब है कि शिक्षा के व्यापार को लेकर पैदा होने वाले किसी भी विवाद की सुनवाई भारतीय न्यायालय में नहीं, बल्कि डब्ल्यूटीओ के विवाद सुलझाने वाले अधिकरण में होगी।

निजी विश्वविद्यालयों और सरकारी उच्च शिक्षा संस्थानों के बीच हर तरह के भेदभाव समाप्त करने की शर्त के रूप में सरकारी संस्थानों को ऑटोनोमस बनाने का प्रवधान है। यहाँ ऑटोनोमस बनाने का अर्थ पुराने दौर की स्वायत्तता नहीं, जहाँ सरकार पूरा खर्च खुद उठाती थी और संस्था के संचालन में सरकार का हस्तक्षेप नहीं होता था। नयी शिक्षा नीति में अनुदान देने वाली संस्था विश्वविद्यालय

अनुदान आयोग का तो विसर्जन ही कर दिया गया है। अब **ऑटोनोमस संस्था होने का मतलब है कि सरकारी संस्थाएँ भी सरकारी अनुदान और बजट की उम्मीद करने के बजाय, भारी फीस वसूलकर, कम वेतन पर शिक्षकों और कर्चारियों की भर्ती करके तथा बैंक से कर्ज लेकर अपने खर्चे खुद जुटाएँगी।**

हालाँकि गैट्स समझौते की तमाम शर्तों को उच्च शिक्षा में सुधार के नाम पर पहले ही टुकड़ों-टुकड़ों में लागू किया जा रहा था और इसके बुरे नतीजे भी सामने आ गये थे। उच्च शिक्षा में 100 प्रतिशत विदेशी पूँजी निवेश की इजाजत पहले ही दे दी गयी थी। छात्र-छात्राओं द्वारा महँगी फीस चुकाने के लिए अपना भविष्य गिरवी रखकर शिक्षा ऋण लेना, पाठ्यक्रम में बदलाव तथा उसकी अवधि और सत्र में फेरबदल, नेट के अलावा अन्य सभी छात्रवृतियों में कटौती, विश्वविद्यालयों के अनुदान में कटौती, शिक्षक और कर्मचारियों की स्थायी नियुक्ति पर रोक और उनकी ठेके पर बहाली, छात्र-शिक्षक अनुपात को पहले से भी बुरी हालत में लाना, हर स्तर पर शिक्षकों की संख्या घटाना, फीस में मनमानी बढ़ोतरी, छात्रों को मिलने वाली हॉस्टल, पुस्तकालय, बस पास, सस्ते कैन्टीन जैसी सुविधाओं में कमी, शिक्षकों की नियुक्ति और छात्रों के प्रवेश में आरक्षण को सही तरीके से लागू न करना और इसी तरह के कई फैसले पिछले कुछ वर्षों से थोपे जा रहे थे। शिक्षा जगत से जुड़े लोगों ने इन फैसलों के खिलाफ कई कैम्पसों में संघर्ष भी किये और अक्सर उन्हें पलटवाने में वे कामयाब भी हुए। लेकिन डब्ल्यूटीओ के समझौते से बँधने और नयी शिक्षा नीति लागू हो जाने के बाद अब सरकार हर कीमत पर इन शर्तों को लागू करेगी। जिस तरह केन्द्र और राज्य सरकारें अर्थव्यवस्था के दूसरे क्षेत्रों में विदेशी पूँजी निवेश की हिफाजत के लिए लाठी-गोली चलवाती हैं, उसी तरह शिक्षा के देशी-विदेशी व्यापारियों के स्वार्थ की रक्षा के लिए दमन-उत्पीड़न करने से भी वे पीछे नहीं हटेंगी।

पिछले कुछ वर्षों से केन्द्र और राज्य सरकारों ने जितनी तेजी से शिक्षा का निजीकरण और व्यवसायीकरण किया, उसके चलते भारी संख्या में दलित-शोषित तबकों के शिक्षार्थी शिक्षा से वंचित हुए हैं जिनमें दलित, आदिवासी, पिछड़े, अल्पसंख्यक और महिलाएँ तथा गरीब सवर्ण भी शामिल हैं। डब्ल्यूटीओ के आगे समर्पण करके शिक्षा को अपने देश की जनता के हित में संचालित करने के बजाय देशी-विदेशी मुनाफाखोरों के हवाले करने का सीधा मतलब यही है कि समाज के वंचित तबकों के लिए, जिनमें से अधिकांश लोगों की पहली पीढ़ी भी उच्च शिक्षा की दहलीज पर आज तक कदम नहीं रख पायी है, उनके लिए शिक्षा के दरवाजे को हमेशा के लिए बन्द कर दिया गया है।

जहाँ तक मध्य वर्ग और खाते-पीते परिवारों की इस हसरत का सवाल है कि विदेशी शिक्षण संस्थाएँ उनको बेहतर शिक्षा प्रदान करेंगी, वह भी मनमोदक ही साबित होंगी, इसमें सन्देह है। पहले भी समय-समय पर निजी संस्थानों की धोखाधड़ी सामने आती रही है, जिनमें भारी फीस वसूलने के बावजूद न्यूनतम शैक्षणिक सुविधाएँ भी नदारद रहीं, और वह भी उस दौर में जब उनके ऊपर यूजीसी और एआईसीटीसी जैसी नियामक संस्थाओं का अंकुश था। इस नयी शिक्षा नीति में उच्च शिक्षा के देशी-विदेशी व्यापारियों को सभी तरह के सरकारी नियन्त्रण और विनियमन से मुक्त और बेलगाम रखा गया है। इसलिए निजी संस्थाएँ जो शिक्षा देंगी, उसकी गुणवत्ता की कोई गारण्टी नहीं होगी। जाहिर है कि उन सौदागरों का मकसद शिक्षा का स्तर ऊँचा उठाना नहीं, बल्कि भरपूर मुनाफा बटोरना है।

यूँ तो हर युग में शासक वर्ग ही अपने वर्गीय स्वार्थों के हिसाब से शिक्षा व्यवस्था को नियन्त्रित और संचालित करते रहे हैं। वे अपनी सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था के अनुरूप समय-समय पर शिक्षा व्यवस्था को ढालते रहे हैं ताकि उनकी व्यवस्था सुचारू रूप से चलती रहे। समाज में उत्पादन प्रणाली जिस अवस्था में होती है, उसी आधार पर उस समाज में शिक्षा, संस्कृति, राजनीति और अन्य सामाजिक संरचनाओं का निर्माण और निर्धारण होता है। पूँजी के वैश्वीकरण के मौजूदा दौर में भी हमारे देश की शिक्षा व्यवस्था साम्राज्यवादी समूह की प्राथमिकता और आवश्यकता के मुताबिक ढाली जा रही है। जिस तरह अंग्रेजों ने अपनी उपनिवेशिक व्यवस्था को चलाने के लिए एक अंग्रेजपरस्त शिक्षित वर्ग पैदा किया था, या आजादी के बाद देश के शासकों ने आत्मनिर्भर आर्थिक विकास की नीति के अनुरूप शिक्षा नीति बनायी थी, ठीक उसी तरह आज साम्राज्यवादी समूह और उनके भारतीय सहयोगी भी साम्राज्यवाद के गीत गाने वाला, उनकी संस्कृति से ओतप्रोत और उनकी ताल पर थिरकने वाला एक शिक्षित वर्ग पैदा कर रहे हैं, जिनको देश की नहीं बल्कि अपने मालिकों की चिन्ता हो।

लेकिन यहाँ आज के नवउदारवादी, निर्मम और नृशंस पूँजीवादी दौर में शिक्षा के क्षेत्र में एक बड़ा परिवर्तन आया है, जिस पर ध्यान देना जरूरी है। पहले किसी भी दौर में सबके लिए समान और अनिवार्य शिक्षा भले ही न रही हो, लेकिन मूलतः यह मुनाफा कमाने का जरिया नहीं थी। यह शासक वर्ग की अपनी जरूरतों की पूर्ति का साधन थी और उस पर खर्च करना सरकार की जिम्मेदारी होती थी। लेकिन डब्ल्यूटीओ के अधीन नयी विश्व पूँजीवादी व्यवस्था की स्थापना के बाद से दुनिया भर में शिक्षा को व्यापार और मुनाफे का साधन बना दिया गया। यानी पूँजीवादी व्यवस्था के कलपुर्जे तैयार करने का खर्च भी जनता से ही वसूला जाने लगा। पहले महँगी शिक्षा पाने के लिए सरकार ने छात्रों-अभिभावकों को बैंक से कर्ज लेने के लिए मजबूर किया। **अब नयी शिक्षा नीति के तहत न केवल छात्रों अभिभावकों को, बल्कि सरकारी कॉलेजों, विश्वविद्यालयों और उच्च शिक्षण संस्थानों को भी अनुदान देने और बजट आवंटित करने की जगह अपना खर्च जुटाने के लिए बैंक से कर्ज लेने और भारी फीस लगाकर उसे चुकाने की नीति बनायी गयी है।** कुल मिलाकर हमारे शासकों ने शिक्षा को खरीद-बिक्री करने और भरपूर मुनाफा कमाने का जरिया बना दिया तथा अपने पुरखों द्वारा निर्धारित

शिक्षा के आदर्शों, उद्देश्यों और लक्ष्यों को कूड़े पर फेंक दिया।

शिक्षा नीति में किये गये सभी बदलावों पर विस्तार से चर्चा करना यहाँ स्थानाभाव के कारण सम्भव नहीं, लेकिन शिक्षा के सम्पूर्ण ढाँचे, उसकी संचालन प्रणाली, प्रशासनिक निकाय, विभिन्न स्तर की शिक्षा के लिए पाठ्यक्रम और शैक्षणिक सत्र, परीक्षा और प्रमाण पत्र, फीस का निर्धारण, शैक्षिक संस्थानों का एकेडमिक बैंक क्रेडिट जैसी मान्यता, उच्च शिक्षा का निर्देशन और विनिमय करने वाले यूजीसी, एआईसीटीसी और अन्य सभी आयोगों की जगह सरकार के अधीन एकल निकाय बनाना, विशिष्ट शिक्षण संस्थानों, जैसे आईआईटी, आईआईएम, एम्स इत्यादि में कला, मानविकी सहित बहुविषयक शिक्षा को बढ़ावा, स्नातक पाठ्यक्रम में एक साल, दो साल या तीन साल पढ़ाई करके छोड़ने पर क्रमशः सर्टिफिकेट, डिप्लोमा और डिग्री देने की व्यवस्था जैसे तमाम प्रावधानों पर विचार करने से ऐसा प्रतीत होता है कि ये बदलाव खुद पूँजीवादी व्यवस्था के लिए कुशल संचालकों को तैयार करने के लिहाज से भी बेकार साबित होंगे। किसी ने सही कहा है कि अधिक मुनाफे की लिप्सा में पूँजीपति वर्ग आत्मघाती कदम उठाने से भी नहीं हिचकता और अधिकतम मुनाफे की हवस में अपनी ही व्यवस्था की जड़ खोदने पर आमादा हो जाता है।

नयी शिक्षा नीति में ऑनलाइन पढ़ाई को काफी तरजीह दिया गया है। यह इस बात का प्रमाण है कि सरकार शिक्षा को लेकर कितनी गम्भीर है। लॉकडाउन और सामाजिक दूरी की विकट परिस्थिति में शिक्षा को जैसे-तैसे जारी रखने के लिए ऑनलाइन पढ़ाई का तात्कालिक विकल्प प्रस्तुत किया गया। यह कितना व्यवहारिक और सफल रहा है, इस पर कोई शोध अध्ययन अभी तक सामने नहीं आया, लेकिन अपने प्रत्यक्ष अनुभव से हम समझ सकते हैं कि यह कितना कारगर है। अधिकांश अभिभावक जिनमें कोरोना लॉकडाउन के चलते करोड़ों की संख्या में रोजी-रोजगार गवाँ चुके लोग भी शामिल हैं, जिनके बच्चों की पढ़ाई ही छूट गयी है, उनकी हैसियत अपने बच्चों को लैपटॉप या स्मार्ट फोन दिलाने की नहीं है। जिन थोड़े लोगों के पास ये साधन हैं भी, वहाँ नेटवर्क की समस्या है। छात्रों की तो बात ही क्या, दूर-दराज के इलाकों में शिक्षकों को भी खराब नेटवर्क की समस्या से जूझना पड़ रहा है। अगर सबकुछ चाक-चौबन्द हो, तो भी क्लास रूम में शिक्षक और छात्रों के बीच जो जीवन्त संवाद और प्रत्यक्ष सम्पर्क होता है, ऑनलाइन पढ़ाई उसकी जगह नहीं ले सकती। कुल मिलाकर यह मजबूरी में अपनाया गया तात्कालिक उपाय "कुछ नहीं की जगह कुछ ही सही" से ज्यादा नहीं, उसे ही सरकार ने इस शिक्षा नीति में एक स्थायी वैकल्पिक प्रणाली के रूप में पेश किया है। नयी शिक्षा नीति के दस्तावेज में ऐप, ऑनलाइन मोड्यूल, सेटेलाइट टीवी चैनल, ऑनलाइन किताबें और टेक्नोलॉजी के जरिये पढ़ाई की बढ़-चढ़कर वकालत की गयी है। इसके अलावा प्राथमिक और माध्यमिक स्तर की पढ़ाई के लिए ओपन स्कूल का विकल्प रखा गया है। **राजीव गाँधी की शिक्षा नीति में दूरस्थ शिक्षा या पत्राचार पाठ्यक्रम स्नातक और स्नातकोत्तर स्तर पर विद्यार्थियों की भीड़ रोकने का एक जरिया था, जिसे इस नयी नीति में और नीचे की कक्षाओं तक में लागू कर दिया गया है। इसका सीधा अर्थ है, बहुसंख्य गरीब जनता की सन्तानों को औपचारिक स्कूली शिक्षा से बाहर धकेलना और उनको शिक्षित करने के नाम पर कागजी खानापूर्ति करना।**

नयी शिक्षा नीति के इस मसौदे में बिड़ला-अम्बानी टास्क फोर्स द्वारा 2002 में प्रस्तुत रिपोर्ट "शिक्षा में पूँजी निवेश के लिए नीतिगत फ्रेमवर्क" की सिफारिशों को भी पूरी तरह समाहित किया गया है। गैट्स समझौता 2015 से तेरह साल पहले तैयार किये गये इस नीतिगत फ्रेमवर्क पर नजर डालें तो यह स्पष्ट हो जाएगा कि शिक्षा को सेवाओं के व्यापार में शामिल करने पर साम्राज्यवादी देशों के पूँजीपति ही नहीं, बल्कि उनके साथ साँठ-गाँठ करने वाले भारतीय शासक पूँजीपति भी कितने लालायित रहे हैं। इस रिपोर्ट में अम्बानी और बिड़ला ने बताया था कि शिक्षा एक लाभदायक बाजार है जिसपर निजी पूँजीपतियों का पूरी तरह नियन्त्रण होना चाहिए। उनका सुझाव था कि हम अपनी पुरानी सोच और इस "मानसिकता में बुनियादी बदलाव लाएँ" जिसके चलते हम "शिक्षा को सामाजिक विकास का अंग मानते रहे हैं।" वे इस बात से नाराज थे कि "भारत में शिक्षा के क्षेत्र पर सम्भवतः अन्य सभी क्षेत्रों से ज्यादा नियन्त्रण है। हर चीज कायदे-कानून से तय होती है, चाहे जगह का चुनाव हो या छात्रों की संख्या, पाठ्यक्रम की विषयवस्तु हो या फीस का ढाँचा, नियुक्तियाँ हो या शिक्षकों को मिलने वाले मुआवजे।" उनके मुताबिक यह नियन्त्रण "निजी पूँजी लगाने वालों के मार्ग में बाधा" उत्पन्न करेगा, इसलिए उन्होंने शिक्षण संस्थानों के "संचालन की स्वतंत्रता और नये-नये बदलाव लाने में लचीलापन" लाने की माँग की थी। इस रिपोर्ट में "विश्वविद्यालय स्तर की शिक्षा का बड़े पैमाने पर निजीकरण करने" और "सरकार की भूमिका केवल सुविधा प्रदान करने वाले सहायक" तक सीमित करने की सिफारिश की गयी थी। निजीकरण को बढ़ावा देने के लिए निजी विश्वविद्यालय कानून बनाने की सलाह दी गयी थी। यह भी कहा गया था कि **जिन पाठ्यक्रमों से भारी मुनाफा कमाने की सम्भावना हो, उन्हें निजी क्षेत्र को सौंपा जाये तथा जो विषय बाजार और मुनाफे के लिए बेकार हैं उनकी जिम्मेदारी सरकार खुद उठाये। इस रिपोर्ट को औपचारिक रूप से लागू किये बगैर ही सरकार इन सुझावों को मुस्तैदी से लागू करती रही।** नयी शिक्षा नीति के दस्तावेज पर इस रिपोर्ट की स्पष्ट छाप है।

आजादी के बाद 1948 में गठित डॉ. एस राधाकृष्णन आयोग, 1952 में डॉ. अय्यर स्वामी मुदालियर आयोग, 1964 में डॉ. डी एस कोठारी आयोग और 1969 में गजेन्द्र गडकर आयोग देश के जानेमाने शिक्षाशास्त्रियों की अध्यक्षता में गठित की गयी थी। उसी शृंखला की अगली कड़ी के रूप में सीधे पूँजीपतियों की अगुआई में शिक्षा नीति से सम्बन्धित टास्क फोर्स का गठन इस देश की पूँजीवादी व्यवस्था के चरम संकट और उससे उत्पन्न चरम पतनशीलता का प्रमाण है। यह सही है कि आजादी के बाद गठित शिक्षा आयोगों की सिफारिशों

के आधार पर तथा भारत की विराट और विविधतापूर्ण आबादी की आकांक्षाओं को ध्यान में रखते हुए शिक्षा व्यवस्था का पुनर्गठन नहीं किया गया, बल्कि शासक पूँजीपति वर्ग अपने क्षुद्र और तात्कालिक लाभ के हिसाब से ही शिक्षा नीतियों का निर्धारण करता रहा। यह भी सही है कि शिक्षा को सर्वसुलभ बनाने के बजाय धनी-गरीब के विभिन्न स्तरों के हिसाब से अच्छी-बुरी कई तरह की शिक्षा का संचालन किया जाता रहा। लेकिन इससे पहले किसी भी आयोग ने इतनी निर्ल्लजतापूर्वक आम जनता को शिक्षा से वंचित करके उसे निजी पूँजीपतियों के हवाले करने की सिफारिश नहीं की थी। यह नवउदारवादी दौर की विशिष्टता है जहाँ देशी-विदेशी पूँजीपति हर चीज को बिकाऊ माल में बदल कर उसे मुनाफे का साधन बना रहे हैं। यही उनकी आत्मा है, यही उनका दर्शन है।

पूँजीवादी राजनीतिक अर्थशास्त्र के प्रवर्तक और बाजारवाद के प्रबल समर्थक एडम स्मिथ अर्थव्यवस्था को पूरी तरह "बाजार के अदृश्य हाथों" में सौपने और अर्थव्यवस्था के तमाम क्षेत्रों में राज्य की न्यूनतम दखलअन्दाजी के हिमायती थे। लेकिन वे भी शिक्षा को "पब्लिक गुड" मानते हुए इसे राज्य की जिम्मेदारी के तहत मुक्त और सर्वसुलभ बनाने की वकालत करते थे। 1990 के बाद चलने वाली नवउदारवाद की आँधी में, जब समाज के रोम-रोम में पूँजी और मुनाफाखोरी का प्रवेश हो गया, तब इस नये धर्म के अनुयायियों ने शिक्षा को सार्वजनिक सेवा और राज्य की जिम्मेदारी मानने से इनकार कर दिया। हालाँकि आज भी गरीबों के बच्चों को पढ़ाने के काम में या घाटे वाले पाठ्यक्रम चलाने में राज्य की भूमिका से उन्हें कोई परहेज नहीं। जैसा कि बिड़ला-अम्बानी रिपोर्ट में सुझाया गया था-- जिस पाठ्यक्रम में मुनाफा हो, वे निजी पूँजीपति के हिस्से और जिनमें मुनाफे की गुंजाइश न हो वे सरकार के जिम्मे। नयी शिक्षा नीति का वैचारिक आधार नवउदारवाद यानी लुटेरे पूँजीवाद का यही नया आर्थिक दर्शन है।

पिछले कुछ वर्षों में शिक्षा के अधिकार पर होने वाले हमलों के खिलाफ हैदराबाद विश्वविद्यालय, जेएनयू, बीएचयू, एएमयू, जामिया विश्वविद्यालय सहित देश के तमाम शिक्षण संस्थाओं के छात्रों, शिक्षकों ने जुझारु संघर्ष चलाये। जाहिर है कि नयी शिक्षा नीति के जरिये शिक्षा से वंचित किये जाने की साजिशों के खिलाफ भी लोग चुप नहीं रहेंगे। शिक्षा का सवाल हमारी वर्तमान और भावी पीढ़ियों की जिन्दगी से जुड़ा हुआ है। लेकिन शिक्षा के अधिकार पर होने वाले हर हमले और हर जनविरोधी नीति को, आम जनता को एक नयी गुलामी में जकड़ने वाली नीतियों से जोड़कर, उसकी गहराई में जाकर समझना जरूरी है। अलग-अलग मुद्दों पर स्थानीय और बिखरे-बिखरे आन्दोलनों को समन्वित करके, उन्हें एक देशव्यापी और निर्णायक आन्दोलन में बदल कर ही इन जनविरोधी और देशविरोधी नीतियों को पलटना सम्भव होगा।

O

पाठकों से अपील

❑ 'देश-विदेश' अंक 36 आपके हाथ में है। हमारा प्रयास है कि इसे अनियतकालीन पत्रिका की जगह हर तीन माह पर नियमित प्रकाशित किया जाये।

❑ जिन साथियों को पत्रिका निरन्तर डाक से भेजी जा रही है, वे कृपया सूचित करें कि उन्हें पत्रिका मिल रही है या नहीं और उन्हें आगे से भेजी जाये या नहीं।

❑ देश-विदेश अव्यवसायिक पत्रिका है। यह साथियों के श्रम और सहयोग से ही प्रकाशित होती है। आर्थिक संकट से जूझते हुए अब तक हमने 36 अंक निकाले। पाठकों के सहयोग से ही यह सम्भव हो पाया।

❑ पत्रिका अभी भी अनियमित है, इसलिए नियमित चन्दे की दर तय करना सम्भव नहीं। डाक से मँगवाने के लिए 4 अंकों की सहयोग राशि 200 रुपये या आजीवन सदस्यता न्यूनतम 2000 रुपये निम्नलिखित बैंक खाते में अन्तरित करें और इसकी सूचना एसएमएस या ईमेल से भेज दें।

नाम : मोहित कुमार
मोबाइल नं. 8755762077
(गूगल-पे और फोन-पे नम्बर)
AC. No. : 30456084252
IFSC : SBIN0002292
स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया (एसबीआई),
एलम, शामली, उत्तर प्रदेश

मनी ऑर्डर भेजने का पता है--

अतुल कुमार गुप्ता
1/4649/45 बी, गली नं. 4,
न्यू मॉर्डन शाहदरा
दिल्ली- 110032

एक आधुनिक कहानी एकलव्य की

-- सुन्दर सरुक्कई

इन दिनों एक शिक्षक होना बहुत मुश्किल है। संस्थानों का विध्वंस, जो इस सरकार की प्रमुख चिन्ता प्रतीत होती है, उसकी शुरुआत शिक्षा से ही हुई। अस्थायी भर्ती, आरक्षण पर सवाल उठाने तथा भय और धमकी का माहौल बनाने के माध्यम से प्रमुख सार्वजनिक विश्वविद्यालयों पर हमला लगातार जारी है। यह एक ऐसा समय है जब कई शिक्षक शिक्षण के अर्थ पर पुनर्विचार करने के लिए मजबूर हैं।

शिक्षक का स्थान

इसके चलते स्कूलों, कॉलेजों और विश्वविद्यालयों में आम तौर पर शिक्षकों के बारे में संदेह का माहौल पैदा हुआ है। शिक्षकों पर लगातार हमले हो रहे हैं-- उन प्रणालियों द्वारा जो छात्रों की हिफाजत करना चाहते हैं (खासकर इसलिए कि आजकल छात्रों को फायदेमन्द 'उपभोक्ता' समझा जाता है), माता-पिता द्वारा जो यह तय करते हैं कि एक शिक्षक को क्या और कैसे पढ़ाना चाहिए, एक ऐसी सरकार द्वारा जो शिक्षकों को जलील और इस्तेमाल करती है, और निजी प्रबन्धकों द्वारा जो शिक्षकों को एक अनिवार्य 'बुराई' के रूप में देखते हैं, जिसको सहन करना है। हमारे कॉलेज और स्कूल आज भी सामन्ती रोब-दाब और अत्याचारी श्रम स्थितियों वाली जगहें हैं। ऐसे वातावरण में, अपने जीवन में पहली बार, मैं यह पूछना शुरू कर रहा हूँ कि क्या यह माहौल बिलकुल भी पढ़ाने लायक है?

पहले भी एक शिक्षक होना आसान नहीं था। वेतन काफी कम था और जो काम लिया जाता था, खासकर सैकड़ों परीक्षाओं की कॉपी जाँचना, वह कुछ खास मजेदार नहीं था। लेकिन मामला कुछ अलग था; पढ़ाने के काम में सेवा और प्रतिबद्धता की भावना थी, कुछ हद तक चिकित्सा पेशे के समान। छात्रों के मन में भी, शिक्षकों के लिए सम्मान की भावना थी।

भारत में, शिक्षकों की कई कहानियाँ हैं जिन्होंने पढ़ाने के लिए बहुत त्याग किया। शिक्षण का मतलब छात्रों को प्रेरित करना, उन्हें बेहतर इनसान बनाना और जीवन में आगे बढ़ने के लिए सक्षम बनाना था। एक अच्छा गणित शिक्षक हमेशा गणित से कहीं ज्यादा सिखाता है। हर अच्छे शिक्षक से छात्रों ने जो सीखा, वह न केवल विषय से सम्बन्धित था, बल्कि दुनिया में जीने के तौर-तरीके से भी जुड़े थे।

शिक्षण की इस दुनिया का पहला विघटन तब हुआ जब शिक्षण 'ट्यूशन देने' के समतुल्य हो गया। और फिर दूसरी कई प्रमुख समस्याएँ आयीं जिन्होंने शिक्षण के प्रति इस संदेह को बढ़ा दिया। एक डिजिटल दुनिया में, एक शिक्षक की भूमिका उत्तरोत्तर अस्पष्ट होती गयी है। इस बात पर स्पष्टता की कमी है कि वास्तव में एक शिक्षक को क्या सिखाना चाहिए-- सामग्री, या सोचने के विविध तरीके, या दूसरों के साथ मिलकर सीखना?

इसी मुद्दे से सम्बन्धित है शिक्षा तक समान पहुँच का निरन्तर अभाव। हमारे यहाँ लोगों को शिक्षा प्रणाली के भीतर लाने की तुलना में उनको बाहर रखने पर अधिक पैसा लगाया और कहीं ज्यादा प्रयास किया गया है। इसका अधिकांश हिस्सा बुद्धि और योग्यता नामक उस संदिग्ध अवधारणा के माध्यम से किया जाता है, जिसे परीक्षाओं के जरिये संचालित किया जाता है। यह आश्चर्य की बात नहीं है कि शिक्षा के सभी स्तरों पर हमारा सकल नामांकन अनुपात काफी कम है, क्योंकि शुरुआत से ही इस प्रणाली का उद्देश्य नियंत्रण के तरीकों को खोजना था कि शिक्षा के दरवाजे से कौन भीतर आएगा और कौन नहीं। यह एकलव्य ग्रन्थि की एक निरन्तरता है, और यह इसलिए सम्भव है क्योंकि हमने एक ऐसी प्रणाली बनायी है जिसमें जो कुछ पढ़ाया जाता है उसमें बहिष्कृत लोगों के जीवन, उनकी जीवनदृष्टि और उनकी अभिव्यक्तियों का शायद ही कभी प्रतिनिधित्व होता है।

जाति और जानने की एक कहानी

अस्तित्व के इस संकट के दौरान, मैंने एक ताजा तमिल फिल्म देखी, जिसका नाम है सर्वम ताल मयम। यह एक ऐसी फिल्म है, जिसकी आलोचना जाति के मुद्दों से बचने के लिए की गयी है, हालाँकि यह फिल्म मुख्यतः जाति के साथ कर्नाटक संगीत के सम्बन्ध पर है। हो सकता है कि यह सच हो, लेकिन इसमें शिक्षण और सीखने की प्रकृति के बारे में जो कुछ भी कहा गया है, उसमें मुझे अधिक दिलचस्पी है। तमिल मुख्यधारा के मुहावरे में यह एक आधुनिक एकलव्य कथा है, और एकलव्य की कहानी

की तरह ही, जो जाति और विशेषाधिकार के बारे में है, अपने मूल में यह फिल्म शिक्षण और सीखने की प्रक्रियाओं के बारे में है।

एकलव्य की कहानी सर्वविदित है और शिक्षा से बहिष्कार की समस्याओं को उजागर करने के लिए एक शक्तिशाली रूपक के रूप में इसका उपयोग किया जाता रहा है-- इस बारे में कि कैसे शिक्षा पर विशेषाधिकार प्राप्त लोग अपना वर्चस्व कायम करते हैं, भले ही दूसरे लोग उनसे कहीं बेहतर हों। यह फिल्म हमें यह पूछने पर मजबूर करती है-- आज एकलव्य क्या करेगा, अगर द्रोण उसे सिखाने से इनकार करते हैं?

आधुनिक एकलव्य, पीटर जॉनसन, एक मृदंगम बनानेवाले कारीगर का बेटा है। वह बहुत प्रतिभाशाली है। जब वह अचानक एक मृदंगम विद्वान, वेम्बु अय्यर का वादन सुनता है, तो वह मंत्रमुग्ध हो जाता है। लेकिन चेन्नई का यह एकलव्य आसानी से इस विद्वान का छात्र नहीं बन सकता है और बहुत-सी बाधाएँ उनके जातिगत भिन्नता से सम्बन्धित हैं। लड़के के पिता द्वारा इन भिन्नताओं का सबसे स्पष्ट रूप से इजहार किया जाता है जो इन उपकरणों का सृजन करते हैं, लेकिन मानो उन्होंने इस सच्चाई को स्वीकार कर लिया है कि उन्हें उसके वादन की अनुमति नहीं होगी।

हालाँकि, जब वेम्बु अय्यर ने उन्हें अपने छात्र के रूप में लेने से इनकार कर दिया, तो आधुनिक एकलव्य ने हार नहीं मानी। वह कोशिश जारी रखता है और अन्त में अय्यर के छात्र के रूप में अपना लिया जाता है क्योंकि पीटर के जुनून और वास्तविक प्रतिबद्धता को अय्यर ने महसूस कर लिया। पीटर अपने गुरु के प्रति पूर्ण समर्पण के मामले में एकलव्य की तरह ही है, लेकिन एक गलतफहमी के कारण गुरु ने बिना किसी गलती के पीटर को निष्कासित कर दिया। उनका पुनर्मिलन वास्तव में कहानी का मर्म है, क्योंकि यह न केवल विभिन्न जाति के पदसोपान पर स्थित लोगों के बीच, बल्कि शिक्षक और छात्र के पदसोपान के बीच भी एक समझौता वार्ता है।

यदि अर्जुन मूल कहानी में एकलव्य के समकक्ष थे, तो इस आधुनिक संस्करण में एक उतना ही शक्तिशाली समकक्ष भी है। यह एक गौर वर्ण, तमिल ब्राह्मण एनआरआई के रूप में है, जिसका नामांकन हार्वर्ड विश्वविद्यालय में पीएचडी कार्यक्रम में हुआ है। वह अर्जुन से कहीं अधिक विशेषाधिकार के साथ आता है! लेकिन पीटर घबराता नहीं है। वह परम्परावादियों को उनके अपने ही खेल में निशाने पर लेता है। फिल्म के चरमोत्कर्ष पर, उसकी अपनी ऐतिहासिक और सांस्कृतिक चेतना को अपनी शक्ति से झुठलाते हुए दिखाया गया है। पीटर अपने गुरु से सामना होने के कारण बदल जाता है लेकिन वह उस वाद्य को और शास्त्रीय संगीत की उस परम्परा को भी बदल देता है जो उस वाद्य का उपयोग करती है।

वेम्बु अय्यर का किरदार एक शिक्षक के सभी संघर्षों का खुलासा करता है, जो एक विशेष परम्परा से सम्बन्धित है, लेकिन उसमें शिक्षा का एक आदर्श है जो उस बहिष्करण की सीमा को लाँघ जाता है। एक गुरु वही होता है जो एक सच्चे शिष्य की खातिर अपनी परम्परा और सुख-सुविधा से परे जाने में सक्षम होता है। फिल्म हमें याद दिलाती है कि एक शिक्षक अच्छे छात्रों के बिना अधूरा है, लेकिन अच्छा होने का अर्थ केवल बौद्धिक क्षमता नहीं है; बल्कि उससे कहीं ज्यादा है। फिल्म का अन्तिम दृश्य, जब गुरु अपने शिष्य को एक ऐसे व्यक्ति के रूप में स्वीकार करता है, जो न केवल परम्परा को आगे बढ़ा सकता है, बल्कि उसमें अपनी तरफ से सुधार भी ला सकता है, शिक्षण के केन्द्रीय नैतिक सिद्धान्तों में से एक को गहराई से रेखांकित करता है।

एक समावेशी प्रणाली की आवश्यकता

यह फिल्म हमें याद दिलाती है कि वर्तमान शिक्षा प्रणाली एक प्रभावशाली तबके के विशिष्ट गुणों, विशेषताओं और इच्छाओं पर आधारित है। यह समावेशी नहीं है, क्योंकि इसमें पीटर जैसे छात्रों तथा विभिन्न संस्कृतियों और विविध ऐतिहासिक शक्तियों पर आधारित, शिक्षा के सत्य, ज्ञान और विशेषताओं के लिए कोई जगह नहीं है। लेकिन पीटर का संघर्ष शिक्षकों को यह याद दिलाता है कि शिक्षण एक सेवा है, लेन-देन की चीज नहीं। हमारा समाज ऐसे अनगिनत प्रतिबद्ध शिक्षकों से भरा हुआ है, लेकिन वे सभी उन शक्तियों द्वारा दबा दिये जाते हैं जो शिक्षा को अपनी व्यक्तिगत और राजनीतिक महत्त्वाकांक्षाओं की पूर्ति का साधन समझ कर संचालित करते हैं।

(सुन्दर सरुक्कई नेशनल इंस्टीट्यूट ऑफ एडवांस स्टडीज, बेंगलुरु में दर्शनशास्त्र के प्रोफेसर हैं। "द हिन्दू" के प्रति आभार सहित। अनुवाद-- दिगम्बर)

48,000 झुग्गी बस्तियों को तोड़ने का आदेश

कोरोना महामारी और आर्थिक संकट के समय जनता बेहाल है, ऐसे दुर्दिन में सर्वोच्च न्यायालय की 3 सदस्यीय बेंच ने दिल्ली में रेलवे ट्रैक के करीब बसी 48,000 झुग्गी बस्तियों को तोड़ने का आदेश दे दिया। कोर्ट ने तीन महीने की समय सीमा दी है, जिसमें सभी झुग्गी-झोपड़ी को तोड़ दिया जाएगा और कोर्ट के आदेश में यह भी कहा गया है कि इसके विरोध में किसी भी तरीके की राजनीतिक दखल नहीं की जा सकती। इससे झुग्गीवासियों की जिन्दगी तबाह हो जायेगी। पहले ही अपनी जगह-जमीन से उजड़े दर-दर की ठोकर खाते ये नीड़विहीन झुग्गीवासी अब न्याय की फरियाद लेकर कहाँ जायें?

घिसटती अर्थव्यवस्था की गाड़ी और बढ़ती बेरोजगारी

-- अमित इकबाल

पूरी दुनिया में आर्थिक महामन्दी की धमक सुनाई दे रही है। इसे लेकर अर्थशास्त्री लगातार चेतावनी दे रहे हैं, लेकिन सरकारें मन्दी को स्वीकार करने या मन्दी दूर करने के लिए अपनी लुटेरी व्यवस्था में बदलाव करने के लिए बिलकुल तैयार नहीं हैं। हाल ही में कई राष्ट्रीय और अन्तरराष्ट्रीय संस्थाओं ने मन्दी के बारे में चौकाने वाले आँकड़े दिये हैं, जिसे लेकर दुनिया भर में एक नयी बहस उठ खड़ी हुई है।

आईएमएफ की वर्ल्ड इकॉनोमिक आउटलुक-2020 की रिपोर्ट के अनुसार इस वित्तीय वर्ष में विश्व अर्थव्यवस्था 3 फीसदी तक सिकुड़ जायेगी। जबकि विश्व बैंक ने जून में प्रकाशित अपनी रिपोर्ट ग्लोबल इकॉनोमिक प्रोस्पेक्ट में कहा की यह दर 5.2 फीसदी होगी। ये दोनों ही आँकड़े अर्थव्यवस्था की भयावह स्थिति को बयान करने के लिए अपर्याप्त हैं। अलग-अलग रिपोर्टों के अनुसार पहले ही अमरीकी अर्थव्यवस्था 33 फीसदी और ब्रिटिश अर्थव्यवस्था 20 फीसदी तक सिकुड़ चुकी है। अमरीकी नेशनल ब्यूरो ऑफ इकॉनोमिक रिसर्च के अनुसार आधिकारिक रूप से अमरीका में मन्दी आ चुकी है, यानी लगातार दो तिमाही से अर्थव्यवस्था की गिरावट जारी है, लेकिन वहाँ की सरकार इस पर आँख मूँदे बैठी है। अलग-अलग देशों के वृद्धि दर के आँकड़ों के अनुसार 2019 के अप्रैल-जून तिमाही की तुलना में 2020 की जीडीपी की वृद्धि दर घटी ही नहीं, बल्कि नकरात्मक हो गयी है। भारत की जीडीपी की वृद्धि दर -23.9 फीसदी, ब्रिटेन की -20.4 फीसदी, फ्रांस की -13.8 फीसदी, इटली की -12.4 फीसदी, अमरीका की -9.1 फीसदी और जापान की -7.6 फीसदी रही, जबकि चीन की वृद्धि दर 3.2 फीसदी रही। अमरीका की मौजूदा बेरोजगारी दर है 14 फीसदी है, जो 2007-08 की मन्दी से कम नहीं है।

सरकारें और उनका चाटुकार मीडिया इसकी जिम्मेदारी कोरोना महामारी और लॉकडाउन पर डालकर अपना पल्ला झाड़ लेना चाहती हैं। लेकिन कुछ दूसरे तथ्यों पर गौर किया जाये तो उनका यह दावा पूरी तरह खोखला ठहरता है। अन्तरराष्ट्रीय मुद्राकोष की रिपोर्ट में वैश्विक अर्थव्यवस्था के बारे में यह दर्ज किया गया है कि महँगाई दर को शामिल करने के बाद 2012 से 2018 तक प्रति व्यक्ति जीडीपी की वृद्धि दर ज्यादातर समय 2 से 2.5 फीसदी के आस-पास थी, जो 2019 में घटकर 1.7 फीसदी हो गयी। अमरीका, यूरोपीय संघ और जापान के मामले में कुल सार्वजनिक कर्ज और सकल घरेलू उत्पाद का अनुपात 2007-08 के वित्तीय महासंकट के दौरान 70 फीसदी के आस-पास था, जो लगातार बढ़ते हुए 2018 तक जीडीपी के लगभग बराबर 100 प्रतिशत हो गया। इसके अलावा इन देशों की जीडीपी की वृद्धि दर 2007 से गिरती हुई 2016 में 1 फीसदी से भी कम हो चुकी है। इन तथ्यों के आधार पर कहा जा सकता है कि मौजूदा आर्थिक तंगहाली का कारण कोरोना महामारी नहीं है। हाँ, यह जरूर कहा जा सकता है कि कोरोना महामारी ने पहले से ही बैसाखी के सहारे घिसटती वैश्विक अर्थव्यवस्था के ऊपर पड़े पर्दे को हटाकर उसे नंगा कर दिया। महामारी अगर नहीं आती तो यह कुछ दिन और घिसटती रह सकती थी।

संयुक्त राष्ट्र संघ की जून में प्रकाशित रिपोर्ट के अनुसार पूँजीपतियों को इस महामारी में भी मुनाफा कमाने का मौका नहीं गँवाना चाहिए और इसके लिए दुनिया भर के पूँजीपतियों के साथ मिलकर इस मुनाफे की लूट को कैसे आगे बढ़ाया जाये, उसकी एक रूपरेखा भी सबके सामने रखी। अगर आर्थिक संकट के लिए कोरोना जिम्मेदार होता तो यह कैसे हो सकता है कि लॉकडाउन के दौरान दुनिया के सबसे बड़े औद्योगिक निगमों का मुनाफा लगातर बढ़ता रहा और आसमान छूने लगा। इन निगमों में फेसबुक, अल्फाबेट, अमेजन, नेटफ्लिक्स, गूगल आदि का मुनाफा देखा जाये तो अचम्भित करने वाले तथ्य सामने आते हैं। पिछले साल कि तुलना में इनका मुनाफा 50 से 100 फीसदी या उससे ज्यादा बढ़ा है। शेयर बाजार में इन कम्पनियों के शेयर की कीमत भी बढ़ रही है। दरअसल, बात यह है कि छोटे-छोटे दुकानदारों की बर्बादी की कीमत पर ही ऑनलाइन खुदरा बिक्री में लगी इन कम्पनियों को अकूत मुनाफा कमाने का मौका मिला है। अमेजन ने तो साफ कहा है कि लॉकडाउन के दौरान दुकानें बन्द रहने के चलते लोगों ने अमेजन के जरिये खूब खरीदारी की। इसका मतलब है कि मौजूदा मन्दी में भी इन दानवाकार कम्पनियों के हाथों पूँजी का संकेन्द्रण लगातार जारी है और इसी के साथ इनका

सरकारों के साथ साँठ-गाँठ और मजबूत हुआ है।

आइये, इन तथ्यों को विश्व की बदलती आर्थिक-राजनीतिक पृष्ठभूमि में रखकर समझते हैं। 2007-08 के वित्तीय महासंकट को दुनिया भर के तमाम शासक वर्ग और उनके हितैषी सिद्धान्तकारों ने 2009 में खत्म होने की घोषणा कर दी थी। लेकिन मुख्यधारा से इतर कई विश्लेषकों ने उस घोषणा को नकारते हुए कहा था कि यह तो भविष्य में निरन्तर चलने वाले संकट की शुरुआत है, जिसे चिरन्तन संकट और असमाधेय संकट भी कहा गया। उनका कहना था कि इजारेदार वित्तीय पूँजीवाद अब ऐसी स्थिति में पहुँच चुका है, जहाँ उसके आगे खाई और पीछे कुआँ है। इसका मतलब है कि पूँजीपतियों ने मुनाफा इतना ज्यादा कमा लिया है कि अब उसके निवेश का संकट पैदा हो गया है। लूट और शोषण के चलते जनता कंगाल हो गयी है और बाजार सिकुड़ गया है। इसलिए महँगाई बढाकर लूट करने और छोटे उद्योगपतियों, व्यापारियों और दुकानदारों को बाजार से बाहर कर उनका कारोबार हथियाने के अलावा ज्यादा मुनाफा देने वाली और कोई तरकीब नहीं दिख रही है। कमाये हुए मुनाफे को शेयर बाजार में निवेश करके उस पर सट्टेबाजी की जा रही है और जनता पाई-पाई को मोहताज है। सरकार ने कल्याणकारी नीतियों को तिलांजली दे दी है। इसलिए वह पूँजीपतियों के ऊपर से टैक्स घटाती जा रही है और जनता को मिलने वाली सुविधाओं और सब्सिडी में कटौती करती जा रही है। इसके अलावा प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष करों का बड़ा बोझ भी जनता के ऊपर डाल दिया गया है। दुनिया अधिकाधिक दो ध्रुवों में बँटती जा रही है। एक तरफ कई अरब जनसंख्या वाली बदहाल-कंगाल जनता तो दूसरी ओर अकूत धन-सम्पदा संचित किये, सभी तरह का भोग विलास करता हुआ मुट्ठीभर धनाढ्य वर्ग। इस वर्ग के हाथों में संचित और केन्द्रित पूँजी ही दुनिया के लिए सबसे बड़ा संकट है। इस संकट को 'अतिशय पूँजी संचय का संकट' भी कहा जाता है।

भारत बुरी तरह मन्दी की गिरफ्त में

कोरोना महामारी और लॉकडाउन ने हमारे देश की सरकार और पूँजीपतियों को पहले से जारी आर्थिक संकट को छुपाने और उसका लाभ उठाने का एक बड़ा मौका दिया है। आर्थिक संकट का बहाना बनाकर जो छँटनी पहले धीमी गति से चल रही थी, उसे कोरोना की आड़ में तेजी से किया गया। लॉकडाउन के दौरान करीब 32 करोड़ मजदूरों को रोजगार से हाथ धोना पड़ा, जिनका सबसे बड़ा हिस्सा निर्माण, होटल और अनौपचारिक क्षेत्र की छोटी-छोटी उत्पादन इकाइयों में कार्यरत था। सरकार ऐसी कोई भी नीति अपनाने में असफल रही जो इस मुश्किल घड़ी में जनता को थोड़ी-सी भी राहत दे। ऑनलाइन स्कूली पढ़ाई, राशन की अपर्याप्त व्यवस्था और दवा-इलाज की बदइन्तजामी ने जनता पर कहर ढा दिये।

भारत के मामले में भी यह कहना ठीक नहीं है कि कोरोना महामारी के चलते ही देश में मन्दी आयी है। कम से कम आँकड़े तो कोरोना महामारी को संकट के मूल कारण के रूप में नहीं दिखाते। भारत की जीडीपी की वृद्धि दर भी बाकी देशों की तरह ही 2010 से लगातार गिर रही थी। 2009-10 में जीडीपी की वृद्धि दर थी-- 10.1 फीसदी, 2015-16 में 8 फीसदी और 2018-19 में 6 फीसदी। इसके बाद जुलाई 2019 से ही हर तिमाही में भारत के जीडीपी की वृद्धि दर लगातार गिरते हुए जनवरी-मार्च 2020 तिमाही में 3 फीसदी तक आ पहुँची थी। इसके आगे अप्रैल-जून 2020 तिमाही की वृद्धि दर का आँकड़ा और चौंकाने वाला है। दुनिया में सबसे कम वृद्धि दर भारत की है -23.9 फीसदी, बल्कि इसे वृद्धि दर के बजाय पतन दर ही कहा जाना चाहिए। अप्रैल में रिजर्व बैंक की रिपोर्ट में स्पष्ट बताया गया था कि लॉकडाउन से पहले जीडीपी, विदेशी निवेश, औद्योगिक उत्पादन और रीयल एस्टेट में गिरावट जारी था।

हालाँकि अर्थशास्त्री अरुण कुमार ने इस पर भी सवाल उठाते हुए कहा है कि जीडीपी की वृद्धि दर वाला नकारात्मक आँकड़ा भी संगठित क्षेत्र का है। इसमें कृषि को छोड़कर बाकी असंगठित क्षेत्र के आँकड़े शामिल नहीं किये गये हैं। अगर असंगठित क्षेत्र का मुकम्मल आँकड़ा होता तो उनका मानना है कि पिछले साल की तुलना में इस साल की दूसरी तिमाही की जीडीपी की वृद्धि दर -47 फीसदी होती। इसमें ठेले-खोमचे वाले, अपने घरों में फोन के चार्जर बनाने, बिन्दी चिपकाने, कपड़े काटने, सिलने, आदि काम में लगे करोड़ों लोगों द्वारा रोजगार से हाथ धो बैठने का कोई हिसाब नहीं है।

पिछले कुछ महीने के औद्योगिक उत्पादन सूचकांक पर गौर किया जाये तो अब तक सिर्फ फरवरी में यह आँकड़ा सकारात्मक रहा है। मार्च से शुरू करके जून तक के उपलब्ध आँकड़े लगातार ऋणात्मक रहे हैं। अप्रैल में सबसे ज्यादा नाकारात्मक वृद्धि दर -55. 5 फीसदी थी। अप्रैल और मई के महीने में बेरोजगारी दर 23.5 फीसदी थी। इसके बाद जून से अभी तक यह लगातार 11 फीसदी पर बनी हुई है। रिजर्व बैंक की अप्रैल में प्रकाशित रिपोर्ट में पिछले दस साल से लगातार अपनी क्षमता से कम उत्पादन की बात को भी दर्ज किया गया है। हालाँकि पिछले दिनों आये ये आँकड़ें बेरोजगारी की स्थिति को स्पष्ट करने के लिए काफी नहीं हैं। हजारों मील पैदल अपने गाँव का रास्ता नापते हुए प्रवासी मजदूर और उनके परिवार की हालत ये आँकड़ें बयान नहीं करते। हाल में प्रकाशित राष्ट्रीय अपराध ब्यूरो के रिपोर्ट अनुसार 2019 में कुल आत्महत्या करने वालों की संख्या थी 1,39,123 जिसके 2 फीसदी मौत का कारण बेरोजगारी बताया गया है। अलग-अलग पेशों के अनुसार तस्वीर कुछ ऐसी है-- दिहाड़ी कमाने वाले 23.4 फीसदी,

गृहिणी 15.4 फीसदी, स्वरोजगार करने वाले 11.6 फीसदी, बेरोजगार 10.1 फीसदी, वेतनभोगी पेशेवर 9.1 फीसदी, कृषि क्षेत्र से जुड़े लोग 7.4 फीसदी, छात्र 7.4 फीसदी और अवकाश प्राप्त लोग 0.9 फीसदी। गौर करने वाली बात है कि 2014 के आत्महत्या सम्बन्धित आँकड़ों में दिहाड़ी कमाने वाले लोग 12 फीसदी थे अगले पाँच साल में यह अनुपात लगभग दुगुना हो गया है।

2016 में भारत सरकार द्वारा किये गये नोटबन्दी, उसके बाद जीएसटी और कोरोना लॉकडाउन के बाद 6 करोड़ अतिलघु, लघु और मध्यम उत्पादक इकाइयाँ बाजार से बाहर होने वाली हैं। गौर करने वाली बात है कि देश की कुल आय में इस क्षेत्र का योगदान एक तिहाई और कुल निर्यात का आधा है, जबकि 10 करोड़ से ज्यादा लोगों का रोजगार भी इसी क्षेत्र से जुड़ा हुआ है। सरकार की तरफ से इन्हें संजीवनी देने के लिए 3 लाख करोड़ का आर्थिक पैकेज घोषित किया गया है। लेकिन वित्त उपमंत्री अनुराग ठाकुर ने जुलाई में दिये गये एक बयान में कहा कि 25 हजार करोड़ का कर्ज मंजूर कर दिया गया है जबकि 14 हजार करोड़ रुपये इस योजना के तहत बाँट दिया गया है। इस क्षेत्र को कर्ज देने में बैंक आनाकानी कर रहे हैं, उन्हें डर है कि नये कर्ज भी बट्टा खाते (एनपीए) में न तब्दील हो जाये। सबसे पहले 2011 में ऑल इंडिया बैंकिंग एम्प्लाइज एसोसिएशन ने बड़ी कम्पनियों के कर्ज न चुकाने के चलते बैंकों की खस्ता हालत को देश की जनता के सामने रखा था। लेकिन इस समस्या को यूपीए और एनडीए, दोनों सरकारें नकारती रही हैं।

2007-08 के वित्तीय महासंकट के बाद से ही भारत में लगातार आर्थिक विसंगतियाँ सामने आने लगी थीं। 2004-05 में श्रम बल में भागीदारी करने वाले लोगों का अनुपात 42 फीसदी था, यानी कुल आबादी के 42 फीसदी लोग उत्पादन के किसी न किसी क्षेत्र में कार्यरत थे। उसके बाद लगातार गिरते हुए 2017-18 में यह अनुपात करीब 35 फीसदी हो गयी। इस रिपोर्ट की खास बात यह है कि 11.5 करोड़ युवा रोजगारशुदा थे, जबकि 12.7 करोड़ युवा पढ़ाई या अन्य प्रशिक्षण में शामिल थे। काम की तलाश कर रहे 2.5 करोड़ युवा बेरोजगार थे। उसके साथ 10 करोड़ ऐसे युवा थे जो किसी न किसी तरह से रोजगार ढूँढना बन्द कर चुके थे, क्योंकि उन्हें यकीन हो गया था अब रोजगार ढूँढना बेकार है।

रिजर्व बैंक की अप्रैल में प्रकाशित मौद्रिक नीति रिपोर्ट-2020 की मानें तो मार्च 2019 से ही ग्रामीण क्षेत्रों में महँगाई दर लगातार बढती जा रही है, जो मजदूरी बढ़ने की दर से ज्यादा है। जनवरी 2019 की तुलना में जनवरी 2020 में मजदूरी 7 फीसदी गिर चुकी है। इस दौरान ग्रामीण क्षेत्रों में मजदूरी में कोई खास बढ़ोत्तरी नहीं हुई और अगले डेढ़-दो साल में वह गिर गयी। ऐसे में लगातार ग्रामीण क्षेत्रों में मनरेगा योजना के तहत ज्यादा लोग काम माँगने लगे। सिर्फ 2019-20 में मनरेगा में 20 लाख नये लोगों ने आवेदन किया। लेकिन बाकी जगहों की तरह मनरेगा योजना में भी 2011 से 2018 तक मजदूरी नहीं बढ़ी, बल्कि 2019-20 में 6 फीसदी गिरावट आई है। जाहिर सी बात है कि सरकार ने मनरेगा के तहत मजदूरी न बढ़ाने का फैसला मालिकों को फायदा पहुँचाने के लिए ही लिया था ताकि निजी क्षेत्र में भी मजदूरी न बढ़े।

मजेदार बात यह है कि लगातार घिसटती अर्थव्यवस्था, बढ़ती बेरोजगारी, आत्महत्या और इसके खिलाफ उठने वाली आवाज के जवाब में हमारे देश की वित्त मंत्री डॉक्टर निर्मला सीतारामन ने इसे "दैवीय कार्रवाई" कहकर अपना पल्ला झाड़ लिया। इस संकट को मौजूदा एनडीए सरकार अगले चरण के सुधार को लागू करने के मौके की तरह इस्तेमाल कर रही है। छोटे-बड़े सभी सार्वजनिक निगमों को निजी हाथों में सौंपकर 'आत्मनिर्भर भारत' का निर्माण किया जा रहा है। हाल ही में मुम्बई समेत कई हवाई अड्डे अडानी ग्रुप के हाथों में सौंपने का ऐलान किया गया है। इनमें से एक है तिरुवनन्तपुरम, जिसको निजी हाथों में देने के बजाय केरल राज्य सरकार ने अपने हाथों में रखने की माँग की है। हिन्दुस्तान एरोनॉटिक्स लिमिटेड का 15 फीसदी हिस्सा भी निजी हाथों में देने की प्रक्रिया लगभग पूरी हो गयी है। बीएसएनएल को निजी हाथों में देने से पहले इसके 88 हजार कर्मचारियों की छँटनी करने का ऐलान भी किया जा चुका है। इस ऐलान के दौरान सत्तासीन भाजपा के सांसद अनन्त हेगड़े ने बीएसएनएल के कर्मचारियों को गद्दार कहा और उनकी छँटनी को जायज ठहराया।

संकट को हल करने की आड़ में सरकार और पूँजीपति मिलकर जनता की गाढ़ी कमाई से तैयार सार्वजनिक क्षेत्र को लूट रहे हैं और उनका एक सांसद कर्मचारियों को गद्दार कहकर उनका अपमान भी करता है। कैसे गिरे हुए लोग हैं। यही लोग महँगाई, बेरोजगारी, भुखमरी जैसी समस्याओं से भटकाने के लिए एक चुटकुला पकड़ा देते हैं। फ्राँसीसी क्रान्ति से पहले वहाँ की जालिम सरकार अपने मंत्रियों से कहती थी कि जनता को रोटी नहीं दे सकते तो सर्कस दिखाओ। दूसरी ओर अधिकांश लोग सरकार का मजाक उड़ाकर सन्तुष्ट हो जाते हैं। इसके बजाय उन्हें सरकार की नीतियों पर सवाल उठाने चाहिए और उसके खिलाफ एकजुट होना चाहिए। हमारी लड़ाई जमीनी होनी चाहिए। जनता को एकजुट किये बिना इस विकट समस्या का कोई समाधान नहीं हो सकता।

लोकतंत्र की हत्या के बीच तानाशाही सत्ता का उल्लास

-- मोहित पुण्डीर

देश में निर्दोष आन्दोलनकारियों पर सरकारी दमन की खबरें अखबारों की सुर्खियाँ बन गयी हैं। विरोध की उनकी आवाज को खामोश करने के लिए पुलिस उन्हें प्रताड़ित कर रही है और झूठे केस में फँसाकर जेल मे बन्द कर रही है। सदफ जफर ने कोर्ट से गुहार लगायी है कि उनके पूरे परिवार को उत्तर प्रदेश पुलिस से खतरा है। उन्होने बताया कि पुलिस किसी भी समय उनके घर आ जाती है और उनके बच्चों से बोलती है कि "तुम्हारी माँ पत्थरबाज है, कहाँ छिपी है वो? उसे बाहर निकालो"। सदफ जफर एक सामाजिक कार्यकर्ता हैं, जिन्होंने सरकार की दमनकारी नीतियों का विरोध किया था। इसके चलते यूपी सरकार ने उन पर 40 केस और 4 एफआईआर दर्ज की हुई हैं। सदफ जफर अकेली नहीं हैं, यूपी सरकार ने पूर्व आईजी एस आर दारापुरी पर एनआरसी कानून के विरोध में शामिल होने और सरकारी सम्पत्ति को नुकसान पहुँचाने का आरोप लगाकर लगभग 64 लाख का हर्जाना ठोक रखा है। हसनगंज में एक गारमेण्ट और जंक स्टोर को तो सरकार ने जबरन कुर्क भी कर लिया है, इनके मालिकों पर भी एनआरसी विरोधी आन्दोलन में शामिल होने का आरोप था। शरजील इमाम, जो अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय के छात्र हैं, उन्हें भी शाहीन बाग आन्दोलन में शामिल होने और भाषण देने के जुर्म में जेल मे बन्द किया गया है। डॉ. कफील को पिछले दो सालों से किसी न किसी मुकदमे में फँसाकर बार-बार जेल में बन्द किया जा रहा है, हालाँकि जनता के जबरदस्त दबाव के चलते और कोर्ट के आदेश के बाद डॉ. कफील को रिहा करना पड़ा। यूपी सरकार के दमन की सूची बहुत लम्बी है। एक तरफ तो यूपी सरकार दावा कर रही है कि उसने अभूतपूर्व तरीके से पूरे प्रदेश को अपराधमुक्त कर दिया है, वहीं दूसरी ओर अनेकों जनपक्षधर और समाजसेवी लोगों पर सरकारी दमन बढ़ता जा रहा है। न केवल यूपी सरकार, बल्कि अन्य प्रदेशों की सरकारें और केन्द्र सरकार भी जनपक्षधर लोगों की आवाज को किसी भी तरह कुचलने पर आमदा है।

अपने बेइन्तहा दमन को जायज ठहराने के लिए यूपी सरकार ने एनआरसी विरोधी आन्दोलन को बहाने के तौर पर इस्तेमाल किया है। याद रहे कि पिछले साल दिसम्बर में देश भर के लाखों लोग एनआरसी और सीएए कानून के विरोध में सड़कों पर उतर आये थे। लेकिन केन्द्र और राज्य सरकारों ने जनता के इस आन्दोलन को कुचलने में कोई कसर नहीं छोड़ी थी। निहत्थे प्रदर्शनकारियों पर पुलिस द्वारा लाठी-गोली चलाई गयी। मुस्लिम घरों में भी जबरन घुसकर तोड़-फोड़ और मारपीट की गयी। मेरठ, मुजफ्फरनगर, कानपुर, आगरा आदि शहरों में पुलिस के उत्पीड़न की अनेकों घटनाएँ अखबारों में दर्ज हैं। इससे भी आगे जाकर सरकार ने सारे कानूनों को ताक पर रखकर 53 सामाजिक कार्यकर्ताओं के पोस्टर नाम और पते के साथ सार्वजनिक कर दिये थे। इन पर सरकारी सम्पत्ति का नुकसान पहुँचाने का आरोप लगाकर जुर्माने के रूप में डेढ़ करोड़ रुपये चुकाने को कहा गया था। ऐसा न करने पर इनकी सम्पत्ति को कुर्क करने की धमकी दी गयी थी। अपनी कार्रवाई को सही साबित करने के लिए सरकार ने जिस एडिशनल डिस्ट्रिक्ट मजिस्ट्रेट के आदेश का हवाला दिया था, उस आदेश को भी एस आर दारापुरी ने कोर्ट में चुनौती दी है। सनद रहे कि कोर्ट में निलम्बित किसी भी आदेश को वैध नहीं माना जाता, यानी सरकार की दलील निराधार है। लेकिन इसके बावजूद सरकार ने हर्जाना वसूलने के अपने फैसले को वापस नहीं लिया, बल्कि सात दिन के अन्दर वसूली न होने पर सारी सम्पत्ति कुर्क करने के आदेश दे दिये। कोरोना के कारण जब पूरे देश में लॉकडाउन हुआ तो कोर्ट ने हर्जाना भरने की सीमा बढ़ा दी। उसके बाद भी तहसीलदार और एसडीएम सदर उनके घर पर जा कर उनके परिजनों को गिरफ्तार करने और घर को सील करने की धमकी देते रहे।

यूएपीए और एनएसए जैसे काले कानूनों का आज बड़े पैमाने पर इस्तेमाल प्रगतिशील लोगों, मानवाधिकार कार्यकार्ताओं, आन्दोलनकारी छात्रों, राजनीतिक नेताओं और बेकसूर लोगों की आवाज बन्द करने के लिए किया जा रहा है। क्या कानून राज का मतलब लोगों की आवाज दबाना रह गया है? जज्बात, जमीर और इज्जत बेच चुकी मुख्यधारा की मीडिया ने अन्याय-उत्पीड़न की ऐसी घटनाओं पर चुप्पी साध ली है। कई बार वह खुद इसे बढ़ावा देने में सबसे आगे नजर आती है।

क्या ऐसे हालात को ही लोकतंत्र कहते हैं? या फिर हमारे देश में लोकतंत्र की हत्या कर दी गयी है? लोकतान्त्रिक मूल्य-मान्यताएँ और लोकतान्त्रिक राजनीति किसी पैगम्बर या ईश्वरीय वरदान से नहीं पैदा हुए हैं। लोकतंत्र के लिए मध्यकालीन सामन्ती अत्याचार और निरंकुशता के खिलाफ लम्बा संघर्ष चलाया गया है, जिसमे लाखों लोगों ने कुर्बानियाँ दी हैं।

देश के मौजूदा हालात को लोकतंत्र के स्थापित सिद्धान्तों की रोशनी में देखने पर बहुत निराशाजनक तस्वीर सामने आती है। क्या आज राजनेता जनता से किये गये अपने वादे को निभा रहे है? नहीं। आज क्या हो रहा है? रोजगार, शिक्षा, चिकित्सा और अन्य सुविधाओं सम्बन्धित चुनावी वादे को कभी पूरा नहीं किया जाता। नतीजा, बहुसंख्यक जनता में साल-दर-साल बदहाली और कंगली बढ़ती जा रही है, शिक्षा और चिकित्सा तो आम मेहनतकश लोगों से कोसों दूर कर दी गयी है। हाड़तोड़ मेहनत करने के बाद भी दो जून की रोटी कमाना दुभर हो रहा हैं। किसान और नौजवान नाउम्मीद होकर आत्महत्या करने को विवश हो रहे है। आज राजनेता लोकतंत्र के विचारों को त्याग चुके हैं, उन्होंने वादा खिलाफी करके सामाजिक अनुबन्ध को सिरे से खारिज कर दिया है। आम जनता के प्रति अपनी सारी जिम्मेदारियों से मुँह मोड़ लिया है, ऐसे में आम जनता का क्या कर्त्तव्य होना चाहिए?

लोकतंत्र में अत्यचारी शासन का जवाब निश्चय ही चुप रहना बिलकुल नहीं है। तो क्या ऐसे समय में छात्रों का काम केवल पढ़ना है? क्या किसानों का काम केवल खेती करना है? क्या मेहनतकश लोगों का काम केवल मेहनत-मजदूरी करना ही है? क्या इनका काम निरंकुश शासन का विरोध करना नहीं है? बल्कि ऐसा करना लोकतंत्र का मूल अधिकार है। आज सरकार के गलत कामों की आलोचना को देशद्रोह कहा जा रहा है। उसके गलत कामों का विरोध करने वालों को देशद्रोही और आँख बन्द करके सरकार की हाँ में हाँ मिलानेवालों को देशभक्त कहना कहाँ तक उचित है।

देश भर में सरकारें बिना कोई मुकदमा चलाये खुद न्यायधीश बनकर लोगों को जेल में बन्द कर रही है या फिर सीधे उनका एनकाउण्टर कर रही हैं। जज सत्ता की चापलूसी कर रहे हैं, सरकार के जनविरोधी फैसले पर मुहर लगा रहे हैं।

भारत जैसे देश में जहाँ समाज की सबसे छोटी इकाई परिवार में ही लोकतान्त्रिक मूल्य मान्यताओं का अभाव है, क्योंकि परिवार के भीतर न तो जीवन साथी चुनने की आजादी है और न ही अपना पेशा। ऐसे देश में शासक वर्ग के लिए लोकतान्त्रिक शासन की हत्या करना बेहद आसान हो जाता है। दरअसल आजादी के बाद भी परिवार की आन्तरिक निरंकुशता बनी रही और समाज में जातियों का उत्पीड़न बरकरार रहा, जिन्होंने कुल मिलाकर लोकतंत्र के दायरे को बहुत छोटा कर दिया था। राजनीति में लोकतंत्र को जिन्दा रखने के लिए चुनाव आयोग, सुप्रीम कोर्ट, आरबीआई और कैग जैसी ऑडिट संस्थाएँ सरकार से स्वतंत्र काम करती थीं, जो सरकार के तानाशाहीपूर्ण रवैये पर एक हद तक अंकुश लगाती थीं। लेकिन भाजपा सरकार ने इनकी स्वायत्तता खत्म करके इन पर सरकार का वर्चस्व स्थापित कर दिया है, इससे लोकतांत्रिक संस्थाएँ भी दम तोड़ रही हैं।

लोकतंत्र ईश्वरकेन्द्रित सत्ता को खत्म करके आया था। आज फिर समय के पहिये को पीछे धकेलने की कोशिश की जा रही है। लोगों को धार्मिक आधार पर बाँटकर लोकतान्त्रिक और धर्मनिरपेक्ष मूल्यों की जगह कट्टरपंथ और हिंसक सोच को बढ़ावा दिया जा रहा है, जिससे सरकार अपनी जनविरोधी नीतियों के पक्ष में एक अंधी भीड़ जुटा ले। ऐसे में जब देश आर्थिक संकट से जूझ रहा है तो मुनाफाखोर अपने मुनाफे की हवस को शान्त करने के लिए मेहनतकश वर्ग के खून की अन्तिम बूँद तक निचोड़ने को आतुर है। यह काम लोकतंत्र के लबादे में रहकर किया जा रहा है। आज भी सत्ता पक्ष ने अपने लोकतंत्र के चोले को उतार नहीं फेंका है। लेकिन सच्चाई यह है कि सरकार मेहनतकश जनता के हितों को कुचलकर देशी और विदेशी पूँजीपतियों के पाले में खड़ी हो गयी है। इसका कई उदाहरण कोरोना महामारी के समय देखने को मिल रहे हैं। अचानक और बिना तैयारी के लॉकडाउन का सबसे बुरा प्रभाव मेहनतकश वर्ग पर पड़ा, काम बन्द होने से मजदूरों का सबसे बड़ा और पीड़ादायक पलायन हुआ। लॉकडाउन में सरकार की बदइन्तजामी ने लाखों मजदूर परिवारों को भुखमरी का शिकार बना दिया। कोरोना का फायदा उठाकर एक तरफ तो सरकार ने सभी जनविरोधी कानूनों को पास किया जिससे मजदूरों के बचे-खुचे लोकतान्त्रिक अधिकार खत्म कर दिये गये और बड़े-बड़े उद्योगपतियों को फायदा पहुँचाया गया। दूसरी तरफ सरकार की इन जनविरोधी नीतियों के खिलाफ उठने वाली हर आवाज को पहले से ही दबाने का काम शुरू कर दिया गया। ऐसे हालात को तो लोकतंत्र बिलकुल नहीं कहा जा सकता। एक बात और, ऐसा नहीं है कि सरकार को विरोध का सामना नहीं करना पड़ रहा है और वह अजर-अमर है। पूरे देश में मजदूर से लेकर किसान तक और छात्र से लेकर दुकानदार तक हर कहीं और हर व्यक्ति सरकार विरोधी प्रर्दशन में या तो शामिल है या उससे सहानुभूति रखता है। जनता बड़े-बड़े तानाशाहों को मिट्टी में मिला देती है। हम सभी इतिहास के सबक को जानते हैं-- तानाशाहों का अन्त हिटलर और मुसोलिनी जैसा ही होता है। आज लोकतंत्र की हत्या के बीच तानाशाही सत्ता जो उल्लास मना रही है, कहीं यह उसका आखिरी उल्लास न बन जाये।

लोकतंत्र के पुरोधाओं ने लोकतंत्र के बारे में क्या कहा था?

आज जब लोकतंत्र का पतन अपने चरम पर है, हमारे लिए यह जानना बेहद जरूरी है कि इसके पुरोधाओं ने इसकी क्या व्याख्या की थी? हम जानते हैं कि उनके विचारों के प्रसार से सदियों से चली आ रही गैर-बराबरी पर आधारित सामन्ती व्यवस्था की जगह समाज में स्वतंत्रता और समानता के बीज पैदा हुए। लोगों में आजाद होने की भावना पैदा हुई और उसे पाने के लिए उन्होंने एक लम्बा संघर्ष किया। आखिरकार फ्रांसीसी क्रान्ति ने पहली बार स्वतंत्रता के विचारों को जमीन पर रोपा। उसने ईश्वर केन्द्रित सत्ता, जिसने सदियों से लोगों को अंधकार युग में धकेल रखा था, उसे उखाड़ फेंका और उसकी जगह मानव केन्द्रित सत्ता की नींव रखी, जो स्वतंत्रता, समानता और भाईचारे के आदर्शों पर टिका था। इन प्रगतिशील विचारों को रूसो, वॉल्टेयर, मान्तेस्क्यू जैसे विचारकों ने उन्नत किया और लोकतंत्र की अवधारणा दी।

रूसो

लोकतंत्र में राजनेता को जनता का सेवक कहा गया हैं। जनता अपने प्रतिनिधि चुनती है, देश की बागडोर और उसके सारे संसाधन उनके हाथों में देती है, ताकि जनता के ये प्रतिनिधि देश को बेहतर तरीके से चलायें। उन्होंने चुनाव के दौरान जो वादा किया है, उसे निभाएँ। यही रूसो के 'सामाजिक अनुबन्ध' का सार है। जिसे उन्होने लोकतंत्र की नींव कहा था। रूसों ने कहा था कि राज्य एक सामाजिक संस्था है जो लोगों के सामान्य हितों को सरकार का समुचित लक्ष्य घोषित करता है।

गियोर्डानो ब्रुनो

चार सौ साल पहले ब्रुनो ने धर्माधिकारियों के झूठ को मानने से इनकार कर दिया था। सच पर डटे रहने के चलते उन्हें जिन्दा जला दिया गया था। सच बोलने की बड़ी कीमत चुकानी ही पड़ती है। ब्रुनो ने बहुत पहले ही ग्रहों और तारों के बारे में बेहद सटीक अध्ययन कर लिया था। हजारों सालों से धर्माधिकारियों ने ईश्वर का खौफ दिखाकर और झूठ बोलकर लोगों को गुलाम बना रखा था, लेकिन ब्रुनो की खोज उनके झूठ का पर्दाफाश करती थी। कई सालों बाद वैज्ञानिकों ने प्रयोगों के जरिये ब्रुनो की बात को सच साबित कर दिखाया। ब्रुनो अपवाद नहीं थे, बल्कि यह जानते हुए कि उन्हें भी मार दिया जाएगा कोपरनिकस, गैलीलियो आदि अनेक लोगों ने अत्याचारी सत्ता के खिलाफ आवाज उठायी।

वाल्तेयर

लोकतंत्र के संस्थापकों में से एक, वाल्तेयर ने कहा था कि "सरकार जब गलत रास्ते पर हो और उसके सुधारने की कोई सम्भावना भी न बची हो, तो सभ्य बने रहना बहुत खतरनाक सिद्ध होता है।" साथ ही उन्होंने अपने एक नाटक में जनता के लिए कहा था कि "उठो... उठो! और अपनी बेड़ियाँ तोड़ डालों।" लोकतंत्र के निर्माताओं का तानाशाही के बारे में क्या मानना था? वाल्तेयर कहते हैं कि "यदि मनुष्य आजाद जन्मा है, तो उचित यही है कि वह सदैव आजाद रहे और यदि कहीं निष्ठुरता या तानाशाही है तो उसे उखाड़ फेंकने का अधिकार भी उसको होना चाहिए"। उनके अनुसार लोकतंत्र जनता को ताकत देता है उसे तानाशाहों से आजाद कराता है। वाल्तेयर ने कहा कि "हो सकता है मैं तुम्हारे विचारों से सहमत न हो पाऊँ लेकिन विचार प्रकट करने के तुम्हारे इस अधिकार की रक्षा जान की बाजी लगाकर भी करूँगा।"

मोंतेस्क्यू

आज मोंतेस्क्यू के उन विचारों को भी याद करना जरूरी है, जिनमें उन्होंने लोकतंत्र के सिद्धान्त को विकसित किया था। उनके अनुसार कार्यपालिका, न्यायपालिका और व्यवस्थापिका लोकतंत्र के महत्त्वपूर्ण अंग है जिनका संचालक अलग-अलग होने चाहिए। अगर तीनों के सत्ता का केन्द्रीयकरण हो गया तो वह तानाशाही को जन्म देगा। आज देश में यही हो रहा है। सरकार के बचाव में न्यापालिका, कार्यपालिका और व्यवस्थापिका तीनों खड़ी नजर आ रही हैं, जिसका सीधा अर्थ है तानाशाही, लोकतंत्र तो कदापि नहीं।

श्रद्धांजलि

सियासी कुटिलताओं के बीच एक सदाशय 'योद्धा सन्त' स्वामी अग्निवेश

-- आनन्द स्वरूप वर्मा

स्वामी अग्निवेश के निधन से देश की जनतांत्रिक शक्तियों ने एक ऐसे मित्र को खो दिया जिसने समाज में व्याप्त हर तरह की बुराइयों, धार्मिक पाखण्ड, अन्धविश्वास और वैज्ञानिक सोच और हाशिये पर पड़े लोगों पर हो रहे अत्याचार के खिलाफ आवाज बुलन्द की।

वैसे तो स्वामी अग्निवेश की पहचान बन्धुआ प्रथा के खिलाफ आन्दोलन के अगुवा के रूप में थी लेकिन देश के किसी हिस्से में अन्याय और उत्पीड़न की घटना की खबर पाते ही स्वामी किसी न किसी रूप में एक सार्थक हस्तक्षेप अवश्य करते थे। अपनी इस सक्रियता की वजह से वह जनवादी तबके के बीच काफी लोकप्रिय थे, लेकिन धार्मिक पाखंड का पर्दाफाश करने की वजह से वह कट्टरपंथी हिन्दुत्ववादी फासिस्ट ताकतों के निशाने पर भी रहे।

दरअसल, स्वामी अग्निवेश अद्भुत वक्ता थे और किसी भगवा वेशधारी द्वारा धार्मिक पाखंड से लोगों को आगाह करने का गहरा प्रभाव पड़ता था जो जनता की अज्ञानता का लाभ उठाकर अय्याशी करने वाले धार्मिक मठाधीशों के व्यवसाय के लिए घातक था। स्वामी अग्निवेश को 1970 से ही, जब से उन्होंने संन्यास लिया, समाज की प्रतिगामी शक्तियों का प्रहार झेलना पड़ा लेकिन उन पर कभी जानलेवा हमला नहीं हुआ। उस समय भी नहीं जब अटल बिहारी वाजपेयी की सरकार थी।

2014 में जब नरेंद्र मोदी के प्रधानमंत्री बनने के साथ इन ताकतों का राज्य मशीनरी पर पूरी तरह कब्जा हो गया, इन्होंने पहले से ही चिन्हित ऐसे लोगों को निशाने पर ले लिया। जुलाई 2018 में झारखंड के पास भाजपा युवा मोर्चा के गुंडों ने 'जय श्रीराम' के नारे लगाते हुए स्वामी अग्निवेश पर घातक हमला किया। वे उन्हें जान से मार देना चाहते थे। स्वामी अग्निवेश झारखंड में पहाड़िया समुदाय के आदिवासियों की समस्या सुनने और उस पर विचार करने गये थे।

बताते हैं कि उस चोट का ऐसा असर रहा कि स्वामी फिर कभी अपने को पूरी तरह स्वस्थ नहीं रख सके। 11 सितम्बर 2020 को उनके निधन के साथ हमारे समय के एक अनूठे 'योद्धा सन्यासी' के जीवन का अन्त हो गया।

स्वामी अग्निवेश से मेरी मुलाकात इमरजेंसी के दौरान पत्रकार मित्र अखिलानन्द ने करायी थी जो उन दिनों रोहतक से निकलने वाले स्वामी के अखबार 'राजधर्म' में काम करते थे। 'राजधर्म' ने इमरजेंसी का अत्यन्त तीखे सम्पादकीय के जरिये विरोध किया था और फिर स्वामी को भूमिगत होना पड़ा था। 1977 में इमरजेंसी समाप्त होने के बाद स्वामी ने बदले हुए राजनीतिक माहौल में चुनाव लड़ा, हरियाणा विधानसभा के सदस्य बने और फिर शिक्षा मंत्री का पद सम्भाला, लेकिन सरकार द्वारा मजदूरों के आन्दोलन के बर्बर दमन के विरोध में मंत्रिपद से इस्तीफा दे दिया।

वैसे तो उम्र में मुझसे वह पाँच साल ही बड़े थे, लेकिन उनका कद बहुत ऊँचा था-- मुझे बार-बार ऐसा महसूस हुआ, हालाँकि स्वामी जी ने सम्बन्धों को दोस्ताना बनाये रखने की हर सम्भव कोशिश की। जबसे उनका जन्तर-मन्तर का ठिकाना बना, हम लोगों का मिलना-जुलना प्रायः होता रहा-- 1990 के दशक के अन्त तक।

1980 में दिल्ली के अनेक जन-संगठनों ने अत्यन्त चर्चित नेता नागभूषण पटनायक की रिहाई के लिए एक समिति का गठन किया। समिति के दो संयोजक बनाये गये-- डी प्रेमपति और स्वामी अग्निवेश। उन दिनों स्वामी जी हरियाणा भवन में रहते थे और इस समिति की पहली बैठक भी उनके कमरे में ही हुई थी।

नागभूषण पटनायक तकरीबन दस साल से आन्ध्र प्रदेश में विशाखापट्टनम की जेल में बन्द थे। वह पार्वतीपुरम षडयंत्र मामले के अभियुक्तों में से एक थे और उन्हें निचली अदालत से मौत की सजा मिली थी। अगस्त 1980 में जब उन्हें अत्यन्त जर्जर अवस्था में आन्ध्र प्रदेश सरकार की निगरानी में 'एम्स' में भर्ती किया गया उस समय भी स्वामी जी हम लोगों के साथ बराबर सक्रिय नजर आये।

दरअसल, भारत के अतिवामपंथी आन्दोलन के प्रति उनका नजरिया आम राजनीतिज्ञों से अलग था और वे मानते थे कि ये लोग आदिवासियों, भूमिहीन किसानों, वंचितों के हक की लड़ाई लड़ रहे हैं जिसे सत्ता बन्दूक के बल पर खामोश कर देना चाहती है। लेकिन सरकारी हिंसा के जवाब में जो हिंसा पनपती जा रही थी, उससे वह बहुत बेचैनी भी महसूस करते थे।

शायद इसी बेचैनी ने 2010 में उन्हें सरकार और माओवादियों के बीच मध्यस्थता करने के लिए प्रेरित किया हो ताकि दोनों पक्षों के बीच शान्ति वार्ता करायी जा सके।

स्वामी ने एक इंटरव्यू में मुझे बताया था कि 6 अप्रैल की घटना से, जिसमें दान्तेवाड़ा में आरपीएफ के 76 जवान मारे गये थे, वह बहुत विचलित थे। वह तहेदिल से चाहते थे कि यह मारकाट समाप्त हो। कारण जो भी हो, पर स्वामी ने निर्विवाद रूप से सदिच्छा के साथ पहल की और जैसा कि बाद के घटनाक्रम से पता चला, वह तत्कालीन गृहमंत्री चिदम्बरम के झाँसे में आ गये।

उनके इस प्रयास की दुखद परिणति हुई-- प्रमुख माओवादी नेता और उनके साथी मारे गये। जिस समय यह तथाकथित मुठभेड़ हुई, प्रमुख माओवादी नेता अपने साथ स्वामी अग्निवेश का पत्र लेकर अपने अन्य साथियों से सम्भावित वार्ता की तारीख तय करने जा रहे थे।

स्वामी का कहना था कि 'यह मेरे जीवन के लिए सबसे बड़ा आघात था'। इस घटना के बाद स्वामी के प्रति चिदम्बरम के व्यवहार में भी बेरुखी आ चुकी थी और स्वामी को महसूस हुआ कि चिदम्बरम ने उनके साथ छल किया है।

लोगों का मानना था कि यह स्वामी की राजनीतिक परिपक्वता और वाहवाही लूटने की महत्वाकांक्षा का नतीजा था। इस घटना के बाद माओवादियों से उनकी दूरी बहुत बढ़ गयी और कुछ ने तो उन्हें चिदम्बरम की साजिश में शामिल भी मान लिया।

सत्ता में बैठे जल्लादों से सदाशयता से नहीं निपटा जा सकता। उनसे निपटने के लिए जिस राजनीतिक कौशल (कुटिलता) की दरकार होती है उसका स्वामी जी में नितान्त अभाव रहा। यही वजह है कि जब भी स्वामी जी ने राजनीति में हाथ-पैर मारने की कोशिश की, उन्हें अपयश का ही सामना करना पड़ा। अन्ना आन्दोलन से उनका निष्कासन याद किया जा सकता है।

वह बहुत निश्छल स्वभाव के और विशुद्ध मानवतावादी थे। सबसे 'बना' कर रखते थे। नक्सलवादियों से भी मधुर सम्बन्ध और वाजपेयी या मुरली मनोहर जोशी या गोपीनाथ मुंडे से भी मधुर सम्बन्ध।

पोकरण विस्फोट के समय उन्होंने प्रधानमंत्री वाजपेयी को जाकर बधाई भी दे दी और विदेश की एक सभा में इसकी भर्त्सना भी कर दी। जब इस मुद्दे पर मैंने, और मेरे ही तरह स्वामी जी से बेतकल्लुफी से बात करने वाले पत्रकार मित्र विनोद अग्निहोत्री ने उन्हें घेरा और इसे घोर अवसरवाद कहा तो उनसे जवाब देते नहीं बना और उन्होंने अपनी गलती स्वीकार कर ली।

अपनी बहुत सारी कमजोरियों के बावजूद हम लोगों के बहुत सारे कार्यक्रमों में स्वामी की सहभागिता प्रायः बनी रही। गरीबों और उपेक्षित जन के प्रति उनके मन में जो करुणा थी, उसमें कोई दिखावा नहीं था। ऐसा मैंने अनेक अवसरों पर महसूस किया था।

मेरे साथ झापा (नेपाल) स्थित भूटानी शरणार्थी शिविरों की यात्रा के समय मैंने उनके उन रूपों को देखा जो किसी भी व्यक्ति को महामानव बना देता है। न केवल भारत में, बल्कि नेपाल और पाकिस्तान के जनतंत्रवादियों और भूटान के शरणार्थियों के बीच भी वह बेहद लोकप्रिय थे।

आज जब हम इतिहास के इस अत्यन्त बर्बर और क्रूर समय में जनतंत्र के लबादे में फासीवाद को झेलने के लिए अभिशप्त हैं, ऐसे मित्रों की और भी ज्यादा जरूरत है जो साहस के साथ कह सकें कि 'इस पाखण्ड को बन्द करो।'

○

मुगल संग्रहालय का नाम बदलने की सनक

यूपी के मुख्यमंत्री योगी ने घोषणा की है कि कुछ भी हो जिससे दासता की मानसिकता की बू आती है, उसे उनकी सरकार द्वारा दूर किया जाएगा और इस घोषणा के साथ ही आगरा में निर्माणाधीन मुगल संग्रहालय का नाम मराठा नायक छत्रपति शिवाजी के नाम पर रखने का भी बात कही गयी।

जब कोई भी व्यक्ति इस संग्रहालय में जाएगा तो उसे कलाकृतियाँ दिखेगी तो पूछेगा कि ये सब मराठा संस्कृति की हैं? जवाब मिलेगा कि नहीं, मुगल संस्कृति की।

फिर वह व्यक्ति चित्रों को देखगा। उत्सुकतावश पूछ बैठेगा कि इसे मराठा दरबार के चित्रकारों ने बनाया है, जवाब मिलेगा कि नहीं भाई, इसे मुगल चित्रकारों ने बनाया था।

भोजन और वेशभूषा को कौतूहलपूर्ण निहारने के बाद बोलेगा कि ये तो पक्का शिवजी महाराज की वेशभूषा है। फिर जवाब मिलेगा कि नहीं दोस्त, यह मुगलों की वेशभूषा थी।

तब वह व्यक्ति अचम्भित होकर बोलेगा कि फिर इस संग्रहालय का नाम शिवजी के नाम पर क्यों है? इसका नाम तो मुगल संग्रहालय होना चाहिए था। तो उसे जवाब मिला कि एक सनकी व्यक्ति मुख्यमंत्री बन गया और मुगलों के प्रति अपनी जहरीली मानसिकता की वजह से इसने संग्रहालय कला को भी हँसी का पात्र बना दिया।

-- साकीब रहमान, एफबी से साभार

हमारा जार्ज फ्लायड कहाँ है?

-- सुहास पालशीकर

क्या भारत के सार्वजनिक जीवन में भी कोई जार्ज फ्लायड जैसी परिघटना होगी? निश्चय ही, यह महज अन्याय की एक घटना के खिलाफ फूट पड़ने वाले आक्रोश तक की ही बात नहीं है बल्कि एक प्रताड़ना के शिकार व्यक्ति के साथ खुद को खड़ा करने की तात्कालिक आवश्यकता को समझने, हाशिए पर फेंक दिये गये लोगों के खिलाफ व्यवस्थित पूर्वाग्रह का अहसास करने और 'हम' और 'वे' के बीच की दहलीज को पार करने के बारे में है। सबसे ऊपर यह वक्त नागरिकों की पहलकदमी का वक्त है। लेकिन दूसरी ओर, भारत के हाल के अनुभवों से ऐसा लगता है कि हमने अन्याय को लोकतंत्र पर लगातार हमले के साथ जोड़ कर समझने का अपना आग्रह खो दिया है।

कुछ महीने पहले, पूरे मीडिया में प्रवासी मजदूरों के पलायन और उनकी पीड़ा की छवियाँ छाई हुई थी। उनकी पीड़ा को लेकर दो बातें चौंकाने वाली हैं-- इस मानवीय त्रासदी को लेकर सार्वजनिक आक्रोश की कोई अभिव्यक्ति सामने नहीं आयी और खुद पीड़ितों ने भी सबकुछ चुपचाप सहन करने का रास्ता चुना। वे शिकायत कर सकते थे, या दबी जुबान से सरकार को कोस सकते थे, लेकिन ऐसा लगता है कि हमारा लोकतंत्र, दरअसल उन्हें अपने अधिकारों की माँग करने या उनका दावा करने की इजाजत ही नहीं देता। आज न सिर्फ प्रवासी, बल्कि अल्पसंख्यक भी 'जनता' के विचार से बाहर कर दिये जाने की अकथनीय पीड़ा झेल रहे हैं। महिलाओं, गाँव के गरीबों, दलितों और आदिवासियों का अपमान तो इससे भी ज्यादा रोजमर्रा की बात हो गयी है।

यहाँ प्रश्न उठता है कि भारतीय लोकतंत्र, समाज के इतने बड़े हिस्से को यातना देना कैसे बर्दाश्त कर लेता है और कैसे यह सुनिश्चित करता है कि पीड़ित लोग विनम्र बने रहें?

आज यह बेहद जरूरी है कि भारतीय लोकतंत्र में मौजूद इस अधीनता को आत्मान्वेषण और आत्मविश्लेषण का विषय बनाया जाये। इस सवाल के तीन प्रकार के उत्तर सोचे जा सकते हैं-- लोकतंत्र के सामान्य कार्यकलाप से सम्बन्धित, भारतीय राज्य की प्रकृति का ऐतिहासिक विश्लेषण करने वाले या फिर समकालीन आन्दोलनों के सन्दर्भ में इसकी व्याख्या करने वाले।

लोकतंत्र के भीतर एक शैतानी प्रवृत्ति, एक बुनियादी विरोधाभास मौजूद है। इसकी शुरुआत जरूर 'लोक' या 'जनता' के नाम पर होती है लेकिन जनता की परिभाषा दिनोंदिन संकीर्ण होती चली जाती है। अक्सर समाज का कोई एक हिस्सा या कोई गठजोड़ खुद को "जनता" के तौर पर स्थापित कर लेता है-- वह खुद को जनता मानता है और उसके विचार "जनता के विचार" का छद्म वेश धारण कर लेते हैं। इससे अपरिहार्य तौर पर समाज में नागरिकों की परतें बन जाती हैं। लोकतंत्र की शुरुआत व्यक्ति को संस्थाओं से ऊपर समझने से होती है लेकिन देर-सवेर वह व्यक्ति की अज्ञानता से व्यवस्था में पड़ने वाले व्यवधान का बहाना करके उन्हें इस अधिकार से भी वंचित कर देता है। इसके अलावा लोकतंत्र 'अधिकार' के विचार को भी बढ़ावा देता है लेकिन व्यवस्था बनाये रखने के नाम पर अधिकारों में कटौती की इजाजत भी देता है। संक्षेप में, अभिजात वर्ग और आम जनता, सक्रिय नागरिक और दब्बू नागरिक, तथा 'अधिकार' और 'व्यवस्था' के बीच के ये अन्तरविरोध ही लोकतंत्र के जीवन का निर्धारण करते हैं। यह महज सिद्धान्त और व्यवहार या अवधारणा और उसके ठोस जीवन के बीच की दूरी का मामला नहीं है बल्कि इस बात पर गौर करने की जरूरत है कि किसी दिये हुए वक्त पर कितना लोकतंत्र होगा, यह इन्हीं अन्तरविरोधों द्वारा पूर्व निर्धारित होता है। लोकतंत्र को औपचारिक तौर पर स्वीकार कर लेने और यह मानकर बैठे रहने से कि लोकतंत्र है, जीवन्त लोकतान्त्रिक व्यवहार अपने आप सुनिश्चित नहीं हो जाता। लोकतान्त्रिक राजनीति अपने प्रयासों से गढ़नी पड़ती है।

नागरिकों की लोकतंत्र में भागीदारी को लेकर भारतीय राज्य का रवैया हमेशा से ही उद्दण्डता पर आधारित रहा है। राज्य कानून-व्यवस्था के शब्दाडम्बर पर, सुविचारित तरीके से जरूरत से ज्यादा जोर देता है। यह रवैया राज्य को इस मान्यता की ओर ले जाता है कि नागरिक राज्य के सक्रिय तत्व नहीं हैं और न ही होने चाहिए। यानी नागरिकों को खुद को संगठित करने, नेतृत्व करने या निगरानी करने के लिए नेताओं का इन्तजार करना चाहिए। इस प्रकार, उनके लिए क्या अच्छा है और क्या बुरा है यह तय करने के मामले में नागरिकों को राज्य की दरियादिली के भरोसे रहना चाहिए। यह सरकार में खुद को केयरटेकर या माई-बाप समझने और नेताओं में खुद को राजनीतिक आका या संरक्षक समझने की मनोग्रन्थि (सिण्ड्रोम) पैदा करता है। कानून-व्यवस्था के मामले में भी भारतीय राज्य को विशेष अधिकार प्राप्त है। यदि खुद को माई-बाप समझने वाला राज्य लोकतंत्र में 'लोक' की सक्रियता के विचार को नकार

देता है तो कानून-व्यवस्था पर जोर इस नकार को वैधता प्रदान करता है। इस तरह, व्यक्ति के अधिकारों और उसकी गरिमा के विमर्श की केवल तभी अनुमति दी जाती है, जब वह 'व्यवस्था' के बारे में राज्य के अपने नजरिये के मातहत हो।

वैधानिक कल्पनाशीलता, न्यायिक विवेचना और लोकानुभूति की धारणा-- ये सभी एक प्रदर्शनकारी के तौर पर नागरिक की पहचान के खिलाफ टाल लगाकर खड़े हो जाते हैं। आजादी के आन्दोलन की विरासत के विपरीत भारत में लोकतंत्र और उसमें जनता की भागीदारी को, सैद्धान्तिक और कानूनी, दोनों रूप से एक व्यवस्थित समाज से असंगत और अक्सर उसके विरोधी तर्क के तौर पर देखा जाता है। चाहे वह 1950 का गोपालन केस हो या व्यक्तिगत आजादी के खिलाफ बहुत से कानूनी स्मारक, जैसे कि हाल ही में प्रयुक्त बदनाम यूएपीए (गैर कानूनी गतिविधि निवारक अधिनियम) कानून। हमेशा दो बातों पर जोर दिया जाता रहा है-- कि राज्य को पता है कि वह सही है और राज्य के विशेषाधिकार होने चाहिए तथा नागरिकों की सक्रियता सन्दिग्ध होती है और वह व्यवस्था कायम करने में बाधा बन सकती है, इसलिए वह सजा की हकदार है।

राज्य द्वारा अधिकारों को मातहत कर लेने और लोक की सक्रियता को असंवैधानिक करार दिये जाने की इसी पृष्ठभूमि में आज वह वक्त आ पहुँचा है कि आलोचना करना लगभग राजद्रोह समझा जाने लगा है, हाशिये पर फेंक दिये गये लोगों के अधिकारों की माँग करने को राज्य के खिलाफ युद्ध की संज्ञा दी जा सकती है और सामाजिक अन्याय के शिकार लोगों के साथ हमदर्दी रखना उपहास का विषय है या निषिद्ध करार दिया गया है। वर्तमान शासन ने राज्य के लोकतान्त्रिक कार्यकलापों के निम्नस्तरीय झुकाव को एक डरावनी कला में बदल दिया है।

हम आज यह बात कर रहे हैं तो हम यह नहीं भूले हैं कि 1975 में तत्कालीन सरकार द्वारा कमोबेश अनाड़ी की तरह पूरी राज्य मशीनरी का नियन्त्रण अपने हाथ में लिया गया था। लेकिन आज लोगों को चुप कराने के लिए उससे कहीं ज्यादा संगठित और सुव्यवस्थित व्यूह-रचना की गयी है। तथापि यह विरोध-प्रदर्शन कर रहे नागरिकों पर बरपा हुआ राज्य का दमनकारी पक्ष नहीं है जो इस प्रश्न का समुचित उत्तर दे सके कि क्यों "किसी और के साथ" होने वाले घोर अन्याय के वक्त भी नागरिकों ने खामोशी अख्तियार करना पसन्द किया।

यह विडम्बनापूर्ण लग सकता है लेकिन दमन के उच्च स्तर के बावजूद आम जनता के भीतर से प्रतिरोध की कमजोरी की बड़ी वजह वर्तमान शासन द्वारा गढ़ा गया वह आख्यान (नैरेटिव) है जो न सिर्फ लोगों की पीड़ा, उनके साथ अन्याय और उत्पीड़न की मौजूदगी जैसी बातों को अमान्य करार देता है बल्कि उनकी मौजूदगी के यथार्थ को ही नकार देता है। यह आख्यान यथार्थ को उसके विपरीत में बदल देता है। सरकार की कामयाबी यह है कि वह आम लोगों को इसका यकीन दिलाने में समर्थ है।

इस वैकल्पिक यथार्थ के युग में जो लोग जुल्म के शिकार हैं, वे अपराधी हैं (जैसे मुसलमान), अगर गलत सूचना के आधार पर बढ़ा-चढ़ाकर नहीं बताये गये हैं तो भी कष्ट भोगना, तपस्या है (जैसे प्रवासियों की दुर्दशा के मामले में) और हाशियाकरण और बहिष्करण पिछली राजनीति के परिणाम हैं (जैसे दलितों और आदिवासियों के मामले में)। इस तरह के आख्यान दो परस्पर विरोधी खेमों को एक दूसरे के खिलाफ ला खड़ा करते हैं। पहला है राष्ट्र-- जो एकता, प्रगति और एक सम्भावित महान युग का प्रतिनिधित्व करता है और जिसके सामने बाकी सभी विभाजनकारी और टुकड़े-टुकड़े गैंग हैं। इसलिए हर वह आवाज जो किसी समूह-विशेष के कष्ट-परेशानी की बात करती है, राष्ट्र के विकास के मार्ग में रोड़ा बन जाती है और हाशिये पर पड़े लोगों का कोई भी संश्रय इस परिभाषा के तहत राष्ट्र-विरोधी रंगत अख्तियार कर लेता है।

यह इस अफसाने की ही ताकत है जिसके सामने कष्ट, जलालत और अन्याय विचारोत्तेजन की अपनी सामर्थ्य खो देते हैं, वे सरकार को कलंकित कर पाने में असमर्थ हो जाते हैं और समाज में कोई नैतिक प्रतिक्रिया नहीं जगा पाते। इस तरह लोकतंत्र के भीतर 'बहुत तरह के अन्याय' और 'खामोश नागरिक समाज' उस समय सह-अस्तित्व में रह सकते हैं जब इस तरह के आख्यानों के जरिये तथ्यों की पुनर्रचना करने के साथ-साथ राज्य आमजन को उन पर विश्वास दिलाने में भी सफल हो जाये। आज के दौर की यह खामोशी इस पुनर्रचित यथार्थ की सच्चाई में आम जनता के यकीन और वैकल्पिक नैतिकता को अपना लेने का नतीजा है।

जब अमरीकी राष्ट्रपति डोनाल्ड ट्रम्प कहता है कि जार्ज फ्लायड "ऊपर से देख रहा है" और यह कहता प्रतीत हो रहा है कि (बेरोजगारी में कमी) "एक बड़ी बात है... जो हमारे देश में हो रही" तो वह फ्लायड की हत्या के प्रभाव को पलटने और लोकतंत्र का नया व्याकरण गढ़ने वालों का प्रतिनिधित्व कर रहा है, कि इस वक्त का महत्त्वपूर्ण तथ्य फ्लायड की हत्या नहीं बल्कि बेरोजगारी की दर में मामूली गिरावट है; और कि फ्लायड की नाराजगी अपनी हत्या को लेकर नहीं बल्कि अर्थव्यवस्था को लेकर रही होगी। इसलिए जो चीज ठीक करने की जरूरत है वह एक समुदाय-विशेष के साथ होने वाला संस्थागत भेदभाव नहीं बल्कि प्रदर्शन करके मृतक का अपमान करने वाले लोग हैं।

राज्य की इस प्रतिक्रिया का सावधानी से अध्ययन करें तो हम समझ पायेंगे कि हमारा देश भी सच्चे अर्थों में अपने खुद के फ्लायड के क्षण को जी रहा है।

(साभार इंडियन एक्सप्रेस, 11 जून 2020। लेखक 'स्टडीज इन इंडियन पॉलिटिक्स' जर्नेल के मुख्य सम्पादक है)

अनुवाद-- ज्ञानेन्द्र

हिन्दू-हृदय सम्राट राज कर रहे हैं कृपया बाधा उत्पन्न न करें

--राजेश कुमार

दिवाली का त्यौहार आने वाला है। लेकिन देशवासियों को इस दुख भरे साल में दो बार दिवाली मनाने का मौका मिला। घरों की साफ-सफाई और कार्तिक माह की फसल आने की खुशी में मनाया जाने वाला यह त्यौहार अब महज त्योहार नहीं रहा, बल्कि धर्म विशेष की पहचान से जोड़ा जाता है। इसकी टेस्टिंग लॉकडाउन में दो बार हुई। एक बार जब देश के सर्वोच्च पद पर आसीन व्यक्ति के मन की जिज्ञासा का ख्याल रखते हुए दीया जलाकर करोड़ों देशवासियों ने प्रकाश तरंग उत्पन्न की। खैर, यह अथाह ऊर्जा कोरोना का बाल भी बाँका न कर सकी, पर इसने हर मोहल्ले में ऐसे कुछ लोगों को चिन्हित करने में आसानी कर दी जिन्होंने हिन्दू-हृदय सम्राट के मन की बात की अवहेलना की। दिवाली मनाने का दूसरा सुनहरा मौका पाँच अगस्त की शाम राम मंदिर का भूमिपूजन करके दिया गया। इस बार असर उतना व्यापक नहीं रहा जितना इसका प्रचार-प्रसार किया गया। फिर भी देश के कोने-कोने में राशन भले न पहुँचा हो पर लोगों को यह कहते हुए सुना गया-- "लॉकडाउन में राम मंदिर बना दिया। आज तक कोई नहीं कर पाया। और अब ये लॉकडाउन तब तक रहेगा जब तक मथुरा में भी मस्जिद तोड़कर कृष्ण मंदिर न बना दिया जाय।"

तीन हजार करोड़ की सरदार पटेल की मूर्ति (स्टेचू ऑफ यूनिटी) को हिन्दू हृदय सम्राट ने भुना लिया। आज यह तथ्य झूठ-सा लगता है कि सरदार पटेल ने आरएसएस के कार्यकर्ता गोडसे द्वारा गाँधी की हत्या के बाद आरएसएस को आतंकवादी संगठन घोषित करके इस पर प्रतिबन्ध लगाने को कहा था। स्टेच्यू ऑफ लिबर्टी की अपार सफलता के बाद राम मन्दिर एक बड़ा प्रयोग है और जनता के बड़े हिस्से को अपने दायरे में खींच लेगा। लॉकडाउन में अर्थव्यस्था के ठप हो जाने से शहरी मजदूर और निम्न मध्यम वर्ग में व्यवस्था के खिलाफ गुस्सा पैदा हुआ था। लॉकडाउन से पहले कई बड़े किसान आन्दोलन हुए थे। इससे लग रहा था कि सरकार के समर्थकों में कमी आना तय है। इसी बीच हिन्दू हृदय सम्राट ने आपदा को अवसर में बदला। गाँव के किसानों को दो-दो हजार रुपये की तिमाही किस्त देना शुरू किया गया। बीपीएल कार्ड धारकों को राशन की मात्रा और बढ़ाने के बजाय किसानों को भी राशन दिया गया। ज्यादातर किसानों ने इसे या तो अपने जानवरों को खिलाया या गाँव के गरीबों को ऊँची कीमतों पर बेचा। सरकार के खिलाफ शहर से पलायित गुस्सायी भीड़ का मुकाबला गाँव की सुप्त अवस्था में पड़ी उस अतिरिक्त आबादी से हुआ जिसे हिन्दू हृदय सम्राट ने चन्द सिक्के फेंककर अपनी ओर कर लिया था।

जब समाज का एक हिस्सा दीया-बाती में ही मस्त हो गया, तो सम्राट ने समझ लिया कि उसकी जड़ी-बूटी काम कर रही है। फिर उसने अपना असली रंग दिखाना शुरू किया। कोरोना में देश की स्वास्थ्य व्यवस्था की असलियत सबके सामने है। फिर भी राष्ट्रीय स्वास्थ्य मिशन के यूनियन बजट में 390 करोड़ की कटौती कर दी गयी। दिल्ली में ऐप पर अस्पतालों में बेड उपलब्ध दिखाये जा रहे हैं। जमीनी हकीकत है कि मरीजों को बेड की कमी की वजह से भर्ती नहीं किया जा रहा है। दिल्ली कोरोना से संक्रमित देश का तीसरा सबसे बड़ा राज्य है। जब यहाँ कोरोना संक्रमितों की संख्या एक लाख पार कर गयी तो लोगों की आँखों से स्वास्थ्य व्यवस्था की असलियत का पर्दा भी हट गया। मुख्यमंत्री के लाख ऐलान करने पर भी प्रवासी लोगों का पलायन नहीं रुका। लॉकडाउन की शुरुआत में पलायन में दिहाड़ी मजदूर और बहुत कम वेतन पाने वाले लोग शामिल थे। अब कई दशक से दिल्ली में रह रहे लोगों का पलायन भी शुरू हो गया है।

दिल्ली से देश के दूर-दराज इलाकों के लिए जाने वाले घरेलू सामानों से लदे ट्रक इसके गवाह हैं। मणिपुर का एक परिवार अपना सामान ट्रक में लादकर पाँच दिन की लम्बी कार यात्रा पर निकल गया। दक्षिणी दिल्ली के जय हिन्द कॉलोनी में रहने वाली पश्चिम बंगाल की साजिदा ने अपना सामान ट्रक में लाद दिया है। वह खुद अपने बच्चों सहित ट्रेन से जा रही है। ऐसी घटनाएँ रोज सैकड़ों की संख्या में हो रही हैं। लेकिन यह मीडिया में चर्चा का विषय नहीं है क्योंकि इससे हिन्दू हृदय सम्राट की जो एक

विराट छवि बनी है उसे क्षति पहुँच सकती है। अगर मीडिया ने दिखाया कि देश में सैकड़ों बच्चे भूख से दम तोड़ रहे हैं, हजारों परिवार विस्थापित हो रहे हैं, लाखों की रोज नौकरियाँ छूट रही हैं, आत्महत्या आम परिघटना हो गयी है, तो कोरोना के ऊपर हिन्दू हृदय सम्राट की विजय का क्या होगा? कोरोना रूपी राक्षस से सम्राट ने एक महाबली की तरह मुकाबला किया है इस छवि को नुकसान पहुँच जाएगा।

इसके अलावा कोरोना में छात्रों की स्कूली पढ़ाई प्रभावित हुई है। सच भी है। स्कूलों में पढ़ाये जाने वाले पाठ्यक्रम को कम करने का निर्णय लिया गया। चुन-चुन कर पाठ्यक्रम में से उन अध्यायों को हटाया गया जो सत्ता से सवाल करने का हौसला देते थे। यह कुछ उसी तर्ज पर हुआ जैसे देश में चुन-चुनकर उन लोगों को या तो जेल में ठूँस दिया या कत्ल करवा दिया गया जिन्होंने सत्ता का पर्दाफाश किया और सवाल खड़े किये। इनमें नरेन्द्र दाभोलकर, पनसारे और वरिष्ठ महिला पत्रकार गौरी लंकेश प्रमुख हैं। जॉर्जटाउन यूनिवर्सिटी में सामाजिक विज्ञान के प्रोफेसर गौरव जे पठानिया का कहना है-- "सामाजिक आन्दोलनों ने सत्ता में बैठे लोगों से सवाल करके इतिहास बदला है। अगर हम आन्दोलनों की कहानी नहीं पढ़ाएँगे तो हम अपनी ऐतिहासिक समस्याओं के मूल कारणों को नहीं समझ सकते। आन्दोलन ऐसा नया ज्ञान, साहित्य, नेता, गीत और कला पैदा करते हैं जो चली आ रही व्यवस्था को चुनौती दे सके। ऐतिहासिक तथ्यों को छेड़कर या प्रतिबन्ध लगाकर हम ऐसे खतरनाक रास्ते तैयार कर रहे हैं जो वैज्ञानिक ज्ञान से हमें काट देगा।"

कोरोना के बहाने उन अध्यायों को इसलिए पाठ्यक्रम से हटाया गया, ताकि हिन्दू हृदय सम्राट की रही-सही बाधा भी दूर हो जाये। एक झलक देखिए-- संघीयवाद, नागरिकता, राष्ट्रवाद, धर्मनिरपेक्षिता, भारतीय लोकतंत्र, सामाजिक ढाँचा और विश्व इतिहास से विभिन्न संस्कृतियों के अध्याय हटा दिये गये। यानी सभी धर्म, संस्कृति और जातियों के प्रति समान भाव पैदा करने वाले अध्याय हटा दिये गये। धर्मनिरपेक्षता के सिद्धान्त की जड़ खोदने का इससे बेहतरीन नमूना और क्या हो सकता है? इस पहलू का विपक्ष और देश के बौद्धिक वर्ग द्वारा जितनी विरोध होना चाहिए था, उतना दिखा नहीं।

वास्तव में लम्बे समय से आरएसएस के एजेण्डे में धर्मनिरपेक्षता को नेस्तनाबूद करना रहा है। इस पर आईटी सेल द्वारा हमला कर-करके एक कॉमन सेन्स पहले ही तैयार किया जा चुका है। आज साम्प्रदायिकता को प्रश्रय देने वाले, जिनके हृदय पर सम्राट राज कर रहे हैं, सेकुलर (धर्मनिरपेक्ष) शब्द को गाली की तरह इस्तेमाल करते हैं। भीड़ में सेकुलर की तरफ ऐसे देखा जाता है जैसे उसने देश का, नीरव मोदी और विजय माल्या से ज्यादा नुकसान किया हो।

इस तरह की नफरत और भेदभाव के भरोसे सम्राट दो दिन भी राज न कर पाते। अगर उन्हें भरपूर आर्थिक सहयोग पहुँचाने वाले न होते। उनके लिए भव्य रैलियों का आयोजन कराने वाले, बेहतरीन पोशाक उपहार में देने वाले और विदेशों में साथ घूमने वालों की भी उनकी छवि बनाने में बहुत बड़ी भूमिका है। पीएम केयर फण्ड के कर्ताधर्ता स्वयं सम्राट हैं, जिनकी अपील मात्र पर देश के पूँजीपतियों ने इस फण्ड में दिल खोलकर चन्दा दिया। प्रधानमंत्री राष्ट्रीय राहत कोष में पिछले पाँच साल में जितना चन्दा जमा हुआ उसके तीन गुने से भी ज्यादा पीएम केयर फण्ड में कोरोना काल में जमा हुआ। एक नया खाता खुलने का इतना व्यापक असर देश के उस पूँजीपति वर्ग पर पड़ा, जिसे अपनी फैक्ट्रियों में मजदूरों से जानलेवा परिस्थितियों में कम वेतन पर काम कराने का कानूनी अधिकार मिल गया है। उनका हृदय नया खाता देखते ही इतना उदार हो गया कि उनसे देश की तकलीफ देखी न गयी। क्या रिलाइंस, टाटा और अडानी सब में दान देने की होड़ लग-सी गयी है?

शायद वे समझ गये थे कि सम्राट के मन में कुछ बड़ा करने का कीड़ा कुलबुला रहा है। वह बड़ा क्या था आज हम सबके सामने है। शिक्षा के निजीकरण का रोडमैप तैयार हो गया। रेलवे में निजीकरण शुरू हो गया। स्टेशन और एयरपोर्ट तो जैसे सब्जी मण्डी में आलू की तरह बिक रहे हैं, रही-सही सरकारी कम्पनियों को भी के बाजार में उतारने के लिए झाड़-पोंछ की जा रही है। इस तरह एक तरफ बहुसंख्यक आबादी को साम्प्रदायिकता की बूटी पीला दी गयी है। दूसरी तरफ वर्षों की मेहनत से देश की मेहनतकश आबादी ने जो संसाधन निर्मित किये उनको नीलाम करके सम्राट ने अपनी विजय पताका लहरा दी है। सम्राट के गालों पर दिन-ब-दिन लाली आ रही है और वे हृष्ट-पुष्ट हो रहे हैं। गरीब मेहनतकश की हालत पस्त है। उनके पास एकजुट होकर सम्राट की झूठी छवि का पर्दाफाश करने के अलावा कोई चारा नहीं भी तो नहीं बचा।

प्रेमचन्द जी का कथन

"साम्प्रदायिकता सदैव संस्कृति की दुहाई दिया करती है, उसे अपने असली रूप में निकलते हुए शायद लज्जा आती है, इसलिए वह संस्कृति की खाल ओढ़कर आती है।"

दिल्ली की सत्ता प्रायोजित हिंसा : नये तथ्यों की रोशनी में

-- अमरपाल

अब तक सामने आये तथ्यों से यह साफ हो चुका है कि फरवरी के अन्तिम सप्ताह में हुई हिंसा सत्ता द्वारा मुख्य रूप से केन्द्र सरकार द्वारा प्रायोजित हिंसा थी।

दिल्ली विधानसभा चुनावा के समय से ही भाजपा नेताओं द्वारा भडकाऊ भाषण दिये गये और लगातार दंगों का माहौल तैयार किया गया। गृहमंत्री अमित शाह ने कहा था कि 'बटन इतनी जोर से दबाओ कि करंट शाहीनबाग में लगे'। सांसद प्रवेश वर्मा का यह भड़काऊ बयान कि 'देश के गद्दारों को गोली मारो सालों को' माहौल बिगाड़ने के लिए काफी था। दिल्ली पुलिस के डीसीपी के सामने भाजपा नेता कपिल मिश्रा का सार्वजनिक सभा में यह कहना कि "हम ट्रम्प के जाने का इन्तजार कर रहें हैं, अगर शाहीनबाग आन्दोलन करने वाले लोग सड़कों से नहीं हटे तो फिर हम पुलिस की भी नहीं सुनेगें।" इन्हीं तीन बयानों से स्पष्ट था कि भाजपा हिंसा भडकाने का षडयंत्र रच चुकी थी। लेकिन प्रशासन शुरू से ही मूक र्दशन बना रहा।

शाहीनबाग आन्दोलन केवल मुसलमानों का आन्दोलन नहीं था बल्कि यह संविधान की रक्षा के लिए लोकतंत्र समर्थकों द्वारा किया गया आन्दोलन था जिसमें देश के सभी जाति-धर्म के लोग शामिल थे। आन्दोलन में शामिल हिन्दुओं द्वारा हवन करना, सिखों द्वारा गुरुवाणी पढा जाना इसका सबूत था। हाँ, यह जरूर है कि सरकार द्वारा किये गये संशोधन में मुस्लिमों को निशाना बनाया गया था इसलिए वे आन्दोलन में बढ़-चढ़कर शामिल थे। इस आन्दोलन में छात्र-छात्राएँ, देश के कोने-कोने से आनेवाले बुद्धिजीवी और सामाजिक कार्यकर्त्ता भी हमेशा शामिल रहे।

इस आन्दोलन को तोड़ने में मोदी सरकार को नाकों चने चबाने पड़े और यह उस के लिए सबसे बड़ी राजनीतिक चुनौती साबित हुआ। सरकार घबरायी हुई थी। चुनाव हो चुका था, षडयंत्र की योजना पहले से तैयार थी बस अमल करना था। तथ्यों से दिन के उजाले की तरह एकदम साफ हो गया है कि उत्तरी-पूर्वी दिल्ली में हुई हिंसा केन्द्र सरकार ने षडयंत्र पूर्वक शाहीनबाग आन्दोलनकारियों को सबक सिखाने के लिए करवायी थी।

आखिर क्यों बिना रोक-टोक के हिंसा होती रही और इसमें प्रशासन ने क्या भूमिका निभायी?

स्थानीय पुलिस द्वारा पुलिस मुख्यालय को भेजी गयी रपटें बताती हैं कि दिल्ली पुलिस 23 फरवरी को दोपहर 1.00 बजे के बाद से ही जफराबाद मेट्रों स्टेशन पर बिगड़ रहे हालात से वाकिफ थी। उस दिन सुबह 9 बजे भी दो समूहों में झड़प हुई थी और शाम 4:30 बजे कपिल मिश्रा ने डीसीपी के सामने भड़काऊ भाषण दिया था। उसके बाद हालात के बिगड़ने की सम्भावना से जुडी तमाम जानकारी पुलिस मुख्यालय भेजी गयी थी। 23 फरवरी को दिल्ली पुलिस की स्पेशल ब्रांच और इण्टेलीजेंस विंग ने बिगड़ रहे हालातों के बारे में कम से कम छः बार पुलिस मुख्यालय को अलर्ट करनेवाले संदेश भेजे थे। इसके अलावा इलाके के जागरुक लोगों ने 700 से ज्यादा पुलिस कॉल की। पुलिस-प्रशासन ऐसी कौन-सी कुम्भकर्णी नींद सो रहा था जो इतना सब होने के बाद भी हिंसा की रोकथाम का काम नहीं कर पाया? लगता है कि सर्वोच्य सत्ता द्वारा उन्हें चुप बने रहने के आदेश दिये गये थे।

5 मार्च 2020 के हिन्दुस्तान टाइम के मुताबिक सिर्फ 24 और 25 फरवरी को दंगों के समय पुलिस मदद की गुहार लगाने वाले 13 हजार से ज्यादा फोन किय गये। एनडीटीवी न्यूज चैनल ने बताया कि दंगा प्रभावित इलाकों के दो पुलिस थानों के रिकार्ड से पता चलता है कि हिंसा से जुड़े अधिकतर फोन कॉल पर पुलिस ने कोई कार्रवाई नहीं की थी। पुलिस द्वारा कार्रवाई नहीं करने की वजह से हिंसा आगजनी और लूटपाट ने विकराल रूप ले लिया। सभी जानते हैं कि दिल्ली की पुलिस सीधे केन्द्र सरकार के गृह मंत्रालय के मातहत है। अगर पुलिस अपनी भूमिका निभाने में नाकाम रहती है तो यह नाकामी गृह मंत्री अमित शाह के हिस्से में आती है। हम दो-तीन उदाहरणों से पुलिस और केन्द्रीय गृह मंत्रालय की नीयत को समझ सकते हैं।

पहली घटना शिव विहार के दो स्कूलों में लूटपाट और आगजनी की है। इनमें एक स्कूल का मालिक हिन्दू है और दूसरे का मालिक मुस्लिम। डीआरपी कॉन्वेन्ट पाब्लिक स्कूल के संचालक धर्मेश शर्मा ने एनडीटीवी को बताया कि उन्होंने आगजनी के डर से पुलिस को कई बार फोन किया। 24 फरवरी को स्कूल पर तीन बार हमला हुआ। हर बार पुलिस को सूचना दी गयी, लेकिन पुलिस नहीं आयी। जब 24 घण्टे बाद, अगले दिन 25 फरवरी को पुलिस स्कूल में पहुँची, तब तक पूरा स्कूल जल चुका था। सरकारी जाँच एजेंसी सीएफजे रिपोर्ट से भी इस घटना की पुष्टि होती है।

राजधानी कॉन्वेण्ट पब्लिक सीनियर सेकेण्डरी स्कूल के मालिक फैजल फारूख ने बताया कि हमारे स्कूल पर 24 फरवरी को शाम 4 से 5 बजे के बीच हमला हुआ। हम पुलिस को फोन करते रहे, वहाँ से बस एक ही जवाब मिलता रहा कि हम आ रहे हैं, लेकिन वे कभी नहीं आये और स्कूल जला दिया गया।

तीसरी घटना बृजपुरी के अरुण मार्डन सीनियर सेकेण्डरी स्कूल की है। इसकी संचालक नीतू चौधरी ने एनडीटीवी को दिये एक इन्टरव्यू में बताया कि 25 फरवरी को कई बार पुलिस को फोन किया, लेकिन पुलिस नहीं आयी। उसी दिन शाम 4 बजे उत्पातियों ने स्कूल में आग लगा दी। फायर ब्रिगेड भी 4 घण्टे बाद पहुँची। तब तक स्कूल का ज्यादतर हिस्सा जल चुका था। केन्द्र सरकार द्वारा बनायी गयी जाँच एजेंसी कमिटी फॉर जस्टिस (सीएफजे) के अनुसार इसी स्कूल के मालिक अभिषेक शर्मा ने बताया कि जब भीड़ ने स्कूल घेर लिया और स्कूल जलाने लगे, तब स्थानीय लोगों ने पुलिस से मदद माँगी, लेकिन पुलिस ने कह दिया कि हमारे पास ऊपर से आदेश नहीं है। हम कुछ नहीं कर सकते।

कॉरवाँ पत्रिका के एक रिपोर्टर के मुताबिक प्रत्यक्षदर्शियों द्वारा दायर की गयी शिकायतों में हिंसा के दौरान दिल्ली पुलिस के कम से कम एक डिप्टी कमिश्नर, दो एडिशनल कमिश्नर और दो थाना अध्यक्ष बिना किसी धमकी या उकसावे के गोली चलाते हुए और प्रदर्शनकारियों की हत्या करते हुए देखे गये। इसके अलावा पीड़ितों ने भी दो पुलिस अधिकारियों पर आरोप लगाये हैं-- एक डीसीपी और एक एसीपी। लेकिन दिल्ली पुलिस ने अभी तक इन पर कोई कार्रवाई नहीं की।

सरकार और भाजपा समर्थक बेवसाइट ऑप-इंडिया ने भी यह स्वीकार किया कि "दंगों के दौरान पुलिस को हजारों कॉल किये गये, लेकिन पुलिस ने दंगों को रोकने के लिए तुरन्त कोई कार्रवाई नहीं की जिस वजह से हिंसा, आगजनी और झड़पें हुईं।"

सरकार समर्थक बेवसाइट के अनुसार 23 फरवरी के 'हिन्दू' पीड़ितों के 4000 कॉल आये थे और कथित तौर पर उन्हें 'इस्लामिक' गिरोहों द्वारा निशाना बनाया जा रहा था। तब भी हिन्दुत्ववादी केन्द्र सरकार ने दिल्ली पुलिस को कार्रवाई करने की इजाजत नहीं दी। मकसद साफ था कि हिंसा की आग ज्यादा से ज्यादा भड़के।

दिल्ली पुलिस ने भड़काऊ भाषण देने वाले भाजपा के तीन नेताओं के खिलाफ एफआईआर तक दर्ज नहीं की जिसके लिए दिल्ली हाई कोर्ट के न्यायमूर्ति एस मुरलीधर ने नाराजगी जतायी और प्रशासन को फटकार लगायी। इसके बाद उन्हें रातों रात दिल्ली से रुखसत कर दिया गया।

अधिकारिक खबरों में बताया गया कि हिस्सा के दौरान 53 लोग मारे गये। इनकी शिनाख्त हुई-- उसमें 39 यानी 75 फीसदी मुस्लिम थे और 13 हिन्दू। 14 मस्जिदें और दरगाह जलायी गयीं, लेकिन किसी मन्दिर को एक खरोंच तक नहीं आयी। इसके बाद भी हिन्दुत्ववादी पत्र-पत्रिकाओं और सोशल मीडिया पर प्रचारित किया गया कि यह दंगा हिन्दुओं के खिलाफ था। कमाल की बात यह है कि पुलिस ने भी लगभग एक तरफा ढंग से मुस्लिमों को ही गिरफ्तार किया है। पुलिस के इस चौकाने वाले रवैये पर पटियाला हाउस जिला न्यायालय ने नाराजगी भी जाहिर की है।

हिंसा के गुजरात मॉडल को दुहराने की कोशिश

2002 में गुजरात में तत्कालीन मोदी सरकार की सरपरस्ती में मुस्लिम समुदाय का नरसंहार किया गया था। इस हत्याकाण्ड में गुजरात राज्य सरकार की और वहाँ की पुलिस भी कटघरे में थी। गुजरात में हत्यारों का नारा था, "यह अन्दर की बात है, पुलिस हमारे साथ हैं।" दिल्ली में गुजरात मॉडल से भी दो कदम आगे जाकर सत्ता पोषित हत्यारों ने मुसलमानों के साथ-साथ हिन्दुओं को भी मारा। इन्होंने हिन्दू-मुसलमान दोनों के घरों और दुकानों को लूटा तथा स्कूलों को जलाया। दिल्ली नरसंहार में हत्यारों को यह कहने की जरूरत ही नहीं पडी कि 'यह अन्दर की बात है पुलिस हमारे साथ है', बल्कि खुल्लम-खुल्ला पुलिस न केवल हत्यारों को पूरी छूट दे रही थी बल्कि इससे कहीं आगे बढ़कर खुद हिंसा को अंजाम भी दे रही थी। कई वीडियों में देखा गया कि पुलिस ही मुसलमानों को मार रही थी, उनसे जबरदस्ती 'भारत माता की जय', 'वन्देमातरम' और 'जन गण मन' कहला रही थी। इसके वाबजूद केन्द्र सरकार की जाँच एजेन्सियाँ कहती हैं कि ये हिन्दू विरोधी दंगा था जिसे मुसलमानों ने अंजाम दिया। सच्चाई यह है कि दिल्ली हिंसा गुजरात मॉडल का ही आगे बढ़ा हुआ रूप है।

गुजरात नरसंहार में कई पुलिस अधिकारीयों ने इस षडयंत्र में सरकार की संलिप्तता का पर्दाफाश किया था। ऐसे ही एक आईपीएस संजीव भट्ट को झूठे आरोपों में फँसा कर जेल भेज दिया गया। लेकिन दिल्ली में ऐसा एक भी पुलिस अधिकारी सामने नहीं आया जो सरकार के षडयंत्र के बारे में मुँह खोले।

दिल्ली में हिन्दू और मुसलमान दोनों को मारा गया। उनके घरों और दुकानों को लूटा गया। यहाँ हिन्दू भी पुलिस से मदद की गुहार लगाते रहे, लेकिन इस हिन्दुत्ववादी केन्द्र सरकार ने किसी की आवाज नहीं सुनी। यह गुजरात मॉडल से अलग बात थी क्योंकि वहाँ कम से कम सरकारी तंत्र हिन्दुओं के पक्ष में तो खड़ा था। गुजरात में सरकारी वकील (प्रासीक्यूटर) उन्हीं को बनाया गया जो हिन्दुत्ववादी सोच के थे और आरएसएस, विश्व हिन्दू परिषद या बजरंग दल आदि हिन्दू संगठनों से जुड़े थे। दिल्ली में भी केन्द्र सरकार ने अपने विशेषाधिकार का इस्तेमाल करके न्यायालयों में इसी तरह से विशेष लोक अभियोजकों (स्पेशल पब्लिक प्रासीक्यूटर)

को दिल्ली हिंसा से जुड़े मामलों में नियुक्त किया है।

गुजरात में सरकारी वकीलों की मदद से सरकार ने दंगाइयों को बचाया था। उसी तर्ज पर दिल्ली में भी सरकारी वकीलों की नियुक्ति केन्द्र सरकार ने अपनी पसन्द से की।

गुजरात में मुस्लिम नरसंहार में लगभग 3000 हिन्दुवादी हत्यारे जेल गये थे। इसके अलावा कई सरकारी अधिकारियों, हिन्दुवादी संगठनों के नेताओं और मंत्रियों तक को जेल की हवा खानी पड़ी थी। हालाँकि बाद में ज्यादातर को छुड़ा लिया गया। लेकिन दिल्ली हिंसा गुजरात मॉडल से एक कदम आगे बढ़ गया। पीड़ितों, लुटने वालों और मरने वालों, जिनके घर, दुकानें और स्कूल जलाये गये। उन्हीं को दंगाई बताकर उनके खिलाफ मुकदमे दर्ज कर जेलों में डाल दिया गया है। हिंसा में लिप्त किसी सरकारी अधिकारी, हिन्दुत्ववादी नेता, या मंत्री के खिलाफ कोई कार्रवाई नहीं हुई है।

दिल्ली में हिंसा फैलाने वालों के बजाय निर्दोष आन्दोलनकारियों की गिरफ्तारियाँ

दिल्ली मे हिंसा फैलाने के जुर्म में अधिकतर उन्हीं लोगों को गिरफ्तार किया गया है, जो 'नागरिकता संशोधन अधिनियम' (सीएए) और 'राष्ट्रीय नागरिक रजिस्टर' (एनआरसी) के विरोध में आन्दोलन कर रहे थे, यानी बुद्धिजीवी, सामाजिक कार्यकर्ता और छात्र-छात्राएँ। गुजरात में दिखावे के लिए ही सही लगभग 3000 दंगाइयों की गिरफ्तारियाँ की गयी थी। लेकिन दिल्ली में हिंसा फैलाने वाले खुलेआम बैखोफ घूम रहे हैं।

सफूरा जरगर की गिरफ्तारी का मामला काफी चर्चित रहा है। वे जामिया मिलिया इस्लामिया की छात्रा है। सफूरा जरगर को 6 मार्च 2020 को एक झूठे मामले में गिरफ्तार किया गया था। जब उनकी इस मामले में जमानत हो गयी तो उन्हें तुरन्त दंगों से जुड़े एक दूसरे फर्जी मामले में 13 अप्रैल को गिरफ्तार कर लिया गया। इन पर आतंकवाद विरोधी काले कानून यूएपीए के तहत आरोप लगाया गया है।

दूसरा मामला मनीष सिरोही का है, जिसके बारे में पुलिस का दावा है कि वह पिछले दो सालों से हथियारों की सप्लाई कर रहा था। हथियारों के इस डीलर को 27 फरवरी 2020 को दिल्ली में चल रही हिंसा के दौरान गिरफ्तार किया गया था। पुलिस के अनुसार उसके पास से पाँच पिस्तौल और बीस कारतूस बरामद किये गये, गौरतलब है कि हिंसा में मारे गये लोगों में से कई की मौत गोली लगने से हुई थी।

सफूरा और मनीष दोनों को स्पेशल सेल द्वारा गिरफ्तार किया गया। सफूरा एक शोध-छात्रा है और मनीष एक हथियार डीलर मनीष सिरोही पर सिर्फ आर्म्स एक्ट के तहत मामला दर्ज किया गया है, जबकि उसे हिंसा के दौरान गिरफ्तार किया गया और उसके पास से अवैध हथियार बरामद हुए थे। सफूरा के खिलाफ आतंकवाद निरोधी कानून के तहत मुकदमा दर्ज किया गया। 6 मई को दिल्ली की एक अदालत ने उसे कोविड-19 से संक्रमित होने के खतरे का हवाला देते हुए आसानी से जमानत दे दी, जबकि सफूरा को गर्भवती होने के बावजूद जमानत के लिए हाई कोर्ट जाना पड़ा, क्या-क्या पापड़ बेलने पड़े। यह सभी जानते हैं।

सफूरा का मामला इकलौता नहीं है। दर्जनों छात्र-छात्राएँ, बुद्धिजीवी, समाजसेवी यूएपीए जैसे दमनकारी कानूनों के तहत गिरफ्तार किये गये हैं। यहाँ तक कि जानी-मानी अर्थशास्त्री जेएनयू की प्रोफेसर जयति घोष, सामाजिक चिन्तक और राजनीतिक कार्यकर्ता योगेन्द्र यादव, प्रोफेसर अपूर्वानन्द और सीपीएम नेता सीताराम एच्चुरी को भी एक अलग आरोप पत्र के तहत दिल्ली हिंसा का अभियुक्त बनाया गया। क्या मनमाने आरोप और गिरफ्तारियों को अंजाम देना इस बात को साफ तौर पर नहीं दर्शाता है कि दिल्ली पुलिस दिल्ली हिंसा को लेकर एक राजनीतिक षडयंत्र कर रही है। दिल्ली में, खुद हिंसा फैलाने और उससे निपटने में असफल रही सरकार की नीतियों का विरोध करनेवालों को ही निशाना बनाने का जो नया मॉडल दिल्ली हिंसा में अपनाया गया, वह गुजरात मॉडल का एक विकसित रूप नहीं तो और क्या है?

नौ सेवानिवृत्त आईपीएस अधिकारियों का दिल्ली हिंसा पर बयान

नौ सेवानिवृत्त आईपीएस अधिकारियों ने दिल्लीनौ सेवानिवृत्त आईपीएस अधिकारियों ने दिल्ली पुलिस आयुक्त एस एन श्रीवास्तव को एक पत्र लिखा। उसमें फरवरी में उत्तर-पूर्वी दिल्ली में भड़के दंगों में "त्रुटिपूर्ण जाँच" की निन्दा की और एक स्वतंत्र और निष्पक्ष जाँच का आह्वान किया। उन्होंने सीएए-विरोध प्रदर्शनों में शामिल लोगों को फँसाये जाने पर भी सवाल किया।

एक रिटायर्ड आईपीएस अधिकारी जूलियो रिबेरो द्वारा हाल ही में लिखे गये एक पत्र का समर्थन करते हुए, संवैधानिक आचरण समूह के सदस्य सेवानिवृत्त सरकारी कर्मचारी के एक समूह ने लिखा है कि "यह भारतीय पुलिस के इतिहास में एक दुखद दिन था कि दिल्ली पुलिस द्वारा अदालत में पेश किये गये जाँच और चालान पक्षपातपूर्ण और राजनीति से प्रेरित माने जा रहे हैं।

उन्होंने तर्क दिया कि पुलिस नेतृत्व में एक "बहुलतावादी रवैया" के कारण हिंसा से पीड़ितों और उनके परिवार के सदस्यों, जो अल्पसंख्यक समुदायों से सम्बन्धित हैं, के लिए न्याय का संकट पैदा हो गया है और उन्होंने कहा कि इस रवैये से हिंसा के असली दोषियों "बहुसंख्यक समुदाय से सम्बन्धित" के छूट जाने की सम्भावना है।

(द हिन्दू से आभार सहित)

बुनियादी बदलाव के लिए जन-संघर्षों का दामन थामना होगा

-- ज्ञानेंद्र

भारतीय राजनीति आज एक संकट से गुजर रही है। संसद से सड़क तक भविष्य को लेकर एक बेचैनी मौजूद है। उदारवादी और संसदीय राजनीति के जरिये जनता में छोटे-मोटे सुधार की गुंजाइश खत्म होती जा रही है। संसदीय वामपंथ जाति आधारित मण्डल राजनीति, दलित राजनीति करने वाली बहुजन पार्टियाँ और वामपंथी संसदीय राजनीति हाशिये पर जा चुकी हैं। 2014 और 2019 के चुनावों ने संसदीय वामपंथ को मुख्यधारा की राजनीति से लगभग बेदखल कर दिया है। बंगाल में बीजेपी के राजनीतिक उभार के पीछे जमीनी स्तर पर "राम और वाम" कार्यकर्ताओं की एकता को रेखांकित किया गया है। वामपंथी राजनीतिज्ञों की स्वच्छ छवि और उनकी सादगी भी उनके किसी काम नहीं आ रही।

जाति आधारित 'मण्डल' राजनीति और बहुजन समाज की बात करने वाली आम्बेडकरवादी दलित राजनीति भी चुनाव के अखाड़े में चारों खाने चित्त पड़ी है। रिजर्वेशन एक ऐसा झुनझुना बनकर रह गया है जिससे खेलने के लिए दलितों और पिछड़ों में धड़ेबंदियाँ हो रही हैं और आरक्षण को लेकर अब सवर्ण जातियों में भी होड़ लगने लगी है। इसलिए बीजेपी और संघ रिजर्वेशन विरोध के पुराने टेप को बन्द कर चुके हैं और उन्होंने तीन ठोस कदम उठाकर इसका भरपूर फायदा उठाया है। पहला, तथाकथित गरीब सवर्णों के लिए 10 प्रतिशत आरक्षण की घोषणा; दूसरा अनुसूचित जाति/अनुसूचित जनजाति/ओबीसी/बीसी के 'रिजर्वेशन के भीतर रिजर्वेशन' करने के लिए आयोग गठित करना या अध्यादेश जारी करके ऐसे जाति समूहों को चिन्हित करना। तीसरा, आर्थिक आधार पर अनुसूचित जाति/अनुसूचित जनजातियों में आरक्षण का विभाजन और इनके आर्थिक रूप से कमजोर लोगों में अपने प्रति हमदर्दी पैदा करना।

संसदीय किसान राजनीति भी अब मुख्यधारा की राजनीति से बाहर हो चुकी है। पुराने किसान नेताओं, जैसे-- चरण सिंह की अपील हरियाणा से लेकर बिहार तक थी, जो उनके मरते-मरते ही क्षेत्रीय और जातिवादी राजनीति में पतित होकर बँट गयी और फिर बड़े दलों के साथ केन्द्रीय सत्ता में मंत्री पदों के लिए सहयोग करने लगी। इस की प्रमुख वजह थी-- किसानों के भीतर आये बदलाव। चरण सिंह के वक्त तक किसान मुख्यतः किसान का ही काम करते थे, वे जमीन्दारों, साहूकारों, आढ़तियों, पूँजीपतियों और सूदखोरों द्वारा सताये जाते थे जिनकी पार्टी कांग्रेस थी, इसलिए किसानों के हित में काम करने के लिए चरण सिंह को अपनी अलग पार्टी बनानी पड़ी।

किसान, सुधारवादी आन्दोलन और ट्रेड यूनियन इन सभी के लिए देश की राजनीति में जगह सिमटती जा रही है और उसकी जगह धुर दक्षिणपंथी राजनीति ले रही है। चरण सिंह और उनके समकालीन अन्य किसान नेताओं द्वारा किये गये सुधारों के कारण और हरित क्रान्ति के चलते किसानों में खुशहाली आयी और फिर उनका चरित्र बदलने लगा। उन्हीं में से कुछ के बेटे मास्टर, सब इंस्पेक्टर, डेरी मालिक, भट्ठे वाले, दुकानदार, देशी-विदेशी कम्पनियों के स्थानीय डीलर इत्यादि बने और बाद की पीढ़ी में प्रोफेसर, जज, आईएएस और आईपीएस जैसे पदों पर भी पहुँच गये।

कृषि अब उनका मुख्य पेशा नहीं रह गया। गाँव के खेत उन्होंने बटाई पर उठा दिये। कस्बों-शहरों में मकान बना लिये। खाते-पीते और मुखर होने के कारण यही लोग किसानों के अगुवा बने रहे लेकिन दरअसल अब वे 'किसान' नहीं रह गये। इसलिए इन्हें बीजेपी या कांग्रेस से अब कोई परेशानी नहीं है जैसी चरण सिंह के शुरुआती संघर्ष के दिनों में होती थी।

इस तरह संसदीय किसान राजनीति क्षेत्रीय और जातीय आधारों पर बँट चुकी है और किसान राजनीति का दावा करने वाले मुख्यतः ऊपर वर्णित गाँव-कस्बों में निवास करने वाले नवधनाढ्य वर्ग के प्रतिनिधि हैं-- इसलिए किसानों में अब उनकी कोई अपील नहीं रह गयी है।

ट्रेड यूनियनों का संघर्ष भी संकट का शिकार है। पहले कारखानों में मजदूर सीधे मालिकों के मातहत रहते थे इसलिए संघर्ष को संगठित करना उतना मुश्किल नहीं था। जितना आज ठेका-प्रथा के प्रचलन के बाद है। अब मजदूर ठेकेदार का आदमी है और एक बड़े काम के कई ठेकेदार बिचौलिये मिलकर पूरा करते हैं। ये लोग सामान्यतः कारखाने के आस-पास के गाँवों के लोग होते हैं। इन्हीं गाँवों से मजदूरों को काम पर लगाने के लिए जुटाते हैं और अकसर अपने फैक्ट्री मालिक का साथ देते हैं और उसके पक्ष में गाँव के लोगों को भी लामबन्द करते हैं, जैसा कि मेरठ-परतापुर इण्डस्ट्रियल एरिया

की बड़ी हड़ताल को दबाने में आस-पास के गाँवों के दबंग लोगों और बदमाशों ने फैक्ट्री मालिकों का साथ दिया जिनके हित ठेकेदारी, दुकानदारी, ट्रांसपोर्ट, किराये पर मजदूरों को मकान देने इत्यादि के जरिये फैक्ट्री मालिकों से जुड़े हुए थे।

हर विभाग में नियमित कर्मचारियों की संख्या आज सीमित कर दी गयी है और उनकी जगह बड़ी संख्या अस्थायी, "मानदेय" पर काम करने वाले अतिथि या ठेका कामगारों को रख लिया गया है। नियमित कर्मचारियों और ठेका कर्मचारी के वेतन और कार्य दशा में भारी अन्तर होता है। ठेका कर्मियों से कम वेतन में अधिक काम कराया जाता है। इसलिए इनके बीच एकता बनाना एक बड़ी चुनौती है। सरकार या प्रबन्धक आज कर्मचारियों की हड़ताल तोड़ने के लिए एक खास रणनीति इस्तेमाल कर रहे हैं-- एक ओर अखबारों और मीडिया के जरिये नियमित कर्मचारियों की भारी-भरकम वेतन, भत्तों और अन्य सुविधाओं का बखान किया जाता है तो दूसरी तरफ ठेका कर्मियों को नियमित करने का लालच देकर उनकी जगह काम पर बुला लिया जाता है। हरियाणा रोडवेज के निजीकरण के खिलाफ चल रही हड़ताल को तोड़ने के लिए यही तरीका अपनाया गया, जिसके परिणामस्वरूप ड्राइवर-कण्डक्टर बसें चलाने लगे। इसके चलते हड़ताल को आगे जारी रखना मुश्किल होता गया और उसे ससम्मान खत्म कर पाना भी ट्रेड-यूनियन के नेताओं के लिए भारी पड़ गया जबकि उन्हें हरियाणा के सबसे बड़े ट्रेड यूनियन, 'सर्व कर्मचारी संघ', का समर्थन प्राप्त था।

इसके अलावा हिन्दू-मुसलमान, जात-बिरादरी इत्यादि पहचान की तेज होती राजनीति भी मजदूर संगठन के रास्ते का बहुत बड़ा रोड़ा बन चुकी है। ये हालात और चुनौतियाँ मजदूरों के संगठन के काम को पहले से ज्यादा दुश्वार बना चुके हैं, जिसके लिए पुराने ट्रेड यूनियन नेता सक्षम नहीं है। उनकी वामपंथी या दक्षिणपंथी पार्टियाँ निजीकरण, वैश्वीकरण और उदारीकरण को स्वीकार कर चुकी हैं। इसलिए जमीन पर काम करने वाले मजदूर नेता निराश हो चुके हैं और दूसरे विकल्प की तलाश में हैं।

भारत की मुख्य श्रमिक आबादी असंगठित क्षेत्र में है, जैसे-- रिक्शा चालक, ठेला खींचने वाले, ट्रकों में सामान लादने वाले, ठेले-खोमचे वाले, लेबर चौराहों पर रोज आकर खड़े होने वाले मिस्त्री, पेण्टर इत्यादि। अलग-अलग काम करने के कारण इनका संगठन बनाना कहीं ज्यादा मेहनत की माँग करता है।

मौजूदा किसान संगठन गरीब और मध्यम किसान की समस्याओं से कोई हमदर्दी नहीं रखते हैं, न ही वे उनके हितों की राजनीति को महत्त्व देते हैं। उन्हें केवल धनी किसानों के हित में ही दिलचस्पी होती है। इसलिए किसान संगठन आज भूमि अधिग्रहण के उचित मुआवजे या समर्थन मूल्य की लड़ाई लड़ रहे हैं जिससे धनी किसानों को ही फायदा होता है। गरीब किसान, बटाईदार किसान और कर्जों के बोझ से दबे छोटे और सीमान्त किसानों की समस्याओं के लिए संघर्ष संगठित करने में मौजूदा किसान नेताओं की कोई रुचि नहीं है।

निजीकरण, उदारीकरण और वैश्वीकरण की नीतियों के देश में लागू होने के बाद देश में विभिन्न वर्गों की दशाओं में निर्णायक बदलाव आये हैं। किसान और मजदूर वर्ग जो जन संघर्षों की धुरी होते थे, अपनी पुरानी पहचान से अलग, आज बहुत तरह से विभाजित हो चुके हैं और ये विभाजन, कुछ मामलों में ऐसे भी हैं जो एक-दूसरे के हितों से टकराते हैं।

इसलिए जन-संघर्षों को तभी सही दिशा में आगे बढ़ाया जा सकता है जब वर्गों के अन्दर के विभाजन को ठीक से समझा जाये। शहरी, कस्बाई और ग्रामीण नवधनाढ्य वर्ग को ठीक-ठीक पहचाना जाये और जन-संघर्षों में उनकी भूमिका को समझा जाये। वे जनता के दुश्मन हैं या दोस्त, इसकी सही समझ हासिल की जाये।

पहले मध्यम वर्ग बहुत कम संख्या में था। आज नवधनाढ्य वर्ग को मिलाकर ऊपर का वर्ग काफी बड़ा है, मध्यम वर्ग भी बहुत बड़ा है। इतनी बड़ी आबादी धन-सम्पत्ति और प्रचार के साधनों की मालिक है और सत्ता के साथ डटी हुई है।

असंगठित और संगठित क्षेत्र के ठेका मजदूरों को संगठित करने के लिए आज पहले के किसी वक्त की तुलना में ज्यादा ताकत चाहिए। आज प्रचार-प्रसार, संगठन और जन-संघर्षों में भागीदारी पर जोर देने की जरूरत है। आन्दोलन उन इलाकों में अपनी ऊर्जा खो देता है जहाँ थोड़ा-बहुत "पूँजीवादी विकास" हो जाता है। इसलिए हालात को तभी आमूल-चूल रूप से बदला जा सकता है, जब जनता की व्यापक गोलबन्दी और दुर्धर्ष प्रचार-प्रसार के जरिये जन-संघर्षों को आगे बढ़ाया जाये।

आज जनसंघर्षों की ताकत बेहद कमजोर है। इसी कमजोर स्थिति से शुरुआत करनी है। संगठन बनाने और आन्दोलन की परम्परागत रणनीतियों पर गहन विचार-विमर्श करके नयी परिस्थितियों के अनुरूप नयी रणनीतियाँ तैयार करने की जरूरत है। इसके लिए जनता के बीच गम्भीर अध्ययन और सर्वे, करने तथा बहस-मुबाहिसे आयोजित करने की जरूरत होगी।

सिर्फ फेसबुक, व्हाट्सएप, ट्विटर इत्यादि सोशल मीडिया प्लेटफार्म पर जनता के मद्दों को उठाते रहना और इसे सामाजिक सक्रियता में न बदलना जन संघर्ष से पलायन है। अगर हर जनपक्षधर बुद्धिजीवी सोशल मीडिया के प्लेटफार्म से अलग सक्रिय होकर जनता के बीच सीधे काम करे और जन-सघंर्ष के खतरों को उठाये तभी आमूल-चूल बदलाव लाना सम्भव है।

राष्ट्रवाद और नकली देशभक्ति के उन्माद, गोरक्षा जैसे सांस्कृतिक प्रतीकों, लिंच-मॉब की प्रतिक्रियावादी राजनीति एजेण्डा सेट करने की दक्षिणपंथी चालों को तभी चुनौती दी जा सकती है जब कोई संगठन जनता के बीच काम करे और उनके बीच प्रतिक्रियावादी राजनीति को बेनकाब करे। इसके सिवाय और कोई रास्ता नहीं।

कहानी

भीड़

-- मैक्सिम गोर्की

मेरे कमरे की खिड़की एक चौराहे की ओर खुलती है, जिस पर पूरे दिन पाँच अलग-अलग सड़कों से आने वाले लोगों का ताँता लगा रहता है, बिलकुल वैसे ही जैसे बोरियों से आलू लुढ़क रहे हों। वे आवारागर्दी करते हैं और फिर भाग जाते हैं और फिर से सड़कें उन्हें अपनी ग्रासनली में गटक लेती हैं। वह चौराहा गोल और बहुत ही गन्दा है, बिलकुल एक कड़ाही की तरह जिसको लम्बे समय तक मांस तलने के लिए इस्तेमाल किया गया हो लेकिन कभी रगड़कर साफ नहीं किया गया हो। ट्राम की चार कतारें इस भीड़ भरे घेरे की ओर बढती हैं और लगभग हर मिनट पर ये ट्राम गाड़ियाँ लोगों की भीड़ में फँसी, सरकती हैं और अपनी बारी आने के लिए चीखती हैं। वे लोहे की झनझनाहट के साथ तेजी से भागती हैं, जबकि उनके ऊपर और उनके पहियों के नीचे बिजली की मनहूस मिनमिनाहट सुनाई देती है। धूलभरी हवा उनकी खिड़कियों के पल्लों की धीमी खड़खड़ाहट और पटरी से टकराती उनके पहियों की कर्कश आवाज से भरी होती है। शहर का नारकीय संगीत लगातार विलाप करता है-- कर्कश आवाजों का एक बर्बर युद्ध जो एक दूसरे को कोंचता और दम घोण्टता है और अनोखी और गन्दी कल्पनाओं को उकसाता है।

बड़े-बड़े सण्डासी, चाकू, आरी और लोहे से बने तमाम हथियारों से लैस, उन्मादी राक्षसों की भीड़ आवेशित होकर, कीड़ों के झुण्ड की भाँति बेहद पागलपन के साथ एक औरत के शरीर पर लहराती है जिसको उसने अपने लोलुप हाथों से जकड़कर उसे जमीन पर धूल और गन्दगी में फेंक दिया है। भीड़ उसकी छातियों को नोच रही है, उसके मांस को काट रही है, उसका खून पी रही है, उसके साथ बलात्कार कर रही है और अंधे, भूखे और वहशी की तरह उस पर टूट पड़ी है।

ये औरत कौन है, जो दिख नहीं रही है। वह विशाल गन्दे पीले लोगों के झुण्ड के अन्दर दब गयी है जिन्होंने अपने हडियल शरीरों को एक दूसरे से उसके चारों ओर सटाकर, अपने घिनौने होठों को जहाँ जगह मिले वहाँ उसके जिस्म से चिपकाकर उसके शरीर के रोम-रोम से जीवन-रक्त को चूस रहे हैं। हवस भरी अमिट लालसा की तड़प में वे एक-दूसरे को अपने शिकार से दूर धकेल रहे हैं, एक-दूसरे को मार रहे हैं, कुचल रहे हैं, दबा रहे हैं और गिरा रहे हैं। हर व्यक्ति जितना अधिक पा सकता है, उतना पाना चाहता है और सभी उत्तेजित आवेग से इस डर से काँप रहे हैं कि कहीं ऐसा न हो कि उनके लिए कुछ भी न बचे। वे अपने दाँतों को किटकिटा रहे हैं और अपने हाथों के हथियारों को बजा रहे हैं। पीड़ा की कराह, हवस का गर्जन, मायूसी का रुदन, भूख की दहाड़ और क्रोध-- ये सब मारे गये शिकार के शव पर होने वाले मातम में घुलमिल गये हैं जो हजारों बलात्कारों द्वारा चिथड़े-चिथड़े और लुटी हुई, और दुनिया की तमाम बहुरंगी गन्दगी में लिथड़ी हुई पड़ी है।

इस बर्बर विलाप का एक साथ घुल-मिल जाना उन हारे हुए लोगों की सबसे दुखदायी पीड़ा है जिनको हाशिये पर फेंक दिया गया है और वे भरे पेट का मजा लेने के लिए हवस की लालसा में नफरत से लार बहा रहे हैं, लेकिन अब ये कमजोर और कायर उसके लिए लड़ नहीं सकते हैं।

यही है शहर के इस संगीत से उकेरी हुई तस्वीर।

रविवार है। लोग इस दिन काम नहीं करते।

इसी वजह से बहुत से चेहरे खिन्नता, उलझन और चिन्ता का भाव ओढ़े हुए हैं। बीते कल का सरल और स्पष्ट मतलब होता है कि उन्होंने सुबह से लेकर शाम तक काम किया। वे तय समय पर उठे, और दफ्तर या कारखाने या सड़क पर बाहर जाने के लिए चल पड़े। वे अपनी उन्हीं पुरानी, लेकिन आरामदायक जगहों पर बैठ गये या खड़े रहे। उन्होंने पैसे गिने, सामान बेचा, जमीन खोदी, लकड़ी काटी, पत्थर तोड़े, लोहा गलाकर सामान बनाया, उसमें छेद किये, पूरे दिन उन्होंने अपने हाथों से काम किया। वे जानी-पहचानी थकावट महसूस करते हुए सोने चले गये-- और आज उन्होंने जागने के बाद पाया कि बेकारी उनकी आँखों में सवाल बनकर घूर रही है और उनसे माँग कर रही है कि उनका यह खालीपन भरा जाना चाहिए...

उनको काम करना सिखाया गया, लेकिन जीना नहीं और इसीलिए आराम का दिन उनके लिए एक मुश्किल दिन होता है। वे मशीनें, गिरजाघर, बड़े जहाज और सोने के आकर्षक छोटे-छोटे टीमटाम बनाने में पूरी तरह से माहिर हैं, लेकिन अपने रोजमर्रे के मशीनी काम के अलावा उस खाली दिन को भरने में वे खुद को असमर्थ महसूस करते हैं। फैक्ट्रियों, दफ्तरों और दुकानों में, ये दाँते

और पहिये खुद को जीवित प्राणी महसूस करते हैं; वहाँ वे अपने ही जैसे दाँते और पहियों के साथ मिलकर उन्हीं की तरह एक सुसंगत जीव बना लेते हैं जो लगातार अपनी शिराओं और धमनियों के जीवनरस से मूल्य पैदा करते हैं, लेकिन अपने लिए नहीं।

सप्ताह के छह दिनों का जीवन आसान है। यह एक बड़ी मशीन है और वे सब उसके पुर्जे हैं, हर कोई इसमें अपनी जगह जानता है, और मानता है कि वह इसके अंधे और घिनौने चेहरे को अच्छी तरह जानता-समझता है। लेकिन सातवें यानी खालीपन और आराम वाले दिन जीवन एक अजीब छिन्न-भिन्न रूप बदलकर उनके सामने आता है। वह दिन विकृत और खोई हुई सूरत लिये हाजिर होता है।

वे सड़कों पर मटरगश्ती करते हैं, वे सैलून और पार्कों में बैठते हैं, वे गिरजाघर जाते हैं, वे नुक्कड़ों पर खड़े रहते हैं। सब हमेशा की तरह गतिमान है, लेकिन कोई सोचता है कि यह सब एक मिनट या शायद एक घण्टे में अचानक रुक जायेगा-- जीवन में किसी चीज का अभाव लग रहा है, जिसको भरने के लिए कोई नयी चीज प्रयासरत है। कोई भी इस अहसास को लेकर पूरी तरह से सचेत नहीं है, कोई भी इसे शब्दों में बयान नहीं कर सकता, लेकिन कुछ गैर मामूली और परेशान करने वाला घटित होने की सम्भावना का सबको पता है। सभी छोटे और सहज अर्थ अचानक जीवन से बाहर हो गये हैं, जैसे मसूड़ों से दाँत अलग हो जाते हैं।

लोग सड़कों पर मटरगश्ती करते हैं; वे ट्राम गाड़ी में बैठते हैं, वे बातें करते हैं; बाहर से देखने में वे सहज लगते हैं-- एक साल में बावन रविवार होते हैं, और काफी अर्से से उन्होंने एक ही तरह से उन्हें बिताने की आदत डाल ली है। लेकिन हर कोई यही अनुभव करता है कि वह कल जैसा था उससे अलग है, और उसका साथी पहले जैसा नहीं है, या उनमें अन्दर कहीं एक तकलीफ और कँपकँपाता खालीपन है, जिसमें कुछ धुँधला-धुँधला और चिन्ताजनक या शायद डरावना है जो शायद अचानक उभर के सामने आ जाये...

हर अहसास में छिपा कोई शक-सुबहा उसमें खलबली मचाता है, और सहज ही वह उसका सामना करने से बचता है...

वे तेजी से एक दूसरे के करीब जमा होकर एक समूह बन जाते हैं; वे सड़क के कोने पर चुपचाप खड़े रहते हैं और उनके करीब जो हो रहा है उसे टकटकी लगाये देखते रहते हैं; अधिक से अधिक जीवित समूह उनके पास आते हैं, और उन हिस्सों को मिलाकर एक भीड़ बनाने की कोशिश करते हैं।

आहिस्ता-आहिस्ता लोग एक दूसरे के पास आते हैं। एक समान अनुभूति, छाती के भीतर एक परेशान करने वाला खालीपन उनको इस झुण्ड में खींचता है जैसे चुम्बक लोहे के बुरादे को खींचता है। लगभग एक दूसरे को देखे बिना वे कन्धे से कन्धा मिलाकर खड़े होते हैं और एक दूसरे को करीब खींचते हैं और चौराहे के एक कोने में अनगिनत सिरों के साथ एक मोटे काले शरीर जैसी आकृति बन जाती है। चुपचाप इन्तजार करती हुई, उदास और तनावग्रस्त, लगभग गतिहीन शरीर आकार ले चुका है और उसके बाद जल्दी ही आत्मा भी प्रकट होती है; एक चौड़ा और सुस्त चेहरा बनता है और सैकड़ों खाली आँखें एक जैसी अभिव्यक्ति और एक समान टकटकी हासिल कर लेती हैं। एक ऐसी चौकन्नी और संदिग्ध टकटकी जो किसी ऐसी चीज की तलाश करती है जिसका आभास उन्हें भयपूर्वक उससे अवगत कराता है।

इस प्रकार उस भयानक दानव का जन्म होता है जिसे भीड़ का नाम दे दिया जाता है।

जब सड़क पर कोई ऐसा व्यक्ति दिखाई देता है जो बाकी लोगों से अलग दिखता हो, क्योंकि उसका पहनावा औरों से अलग हो या वह बाकियों की तुलना में तेज चलता हो, तो भीड़ उसकी तरफ देखती है और अपने सैंकड़ों सिरों को उसकी ओर मोड़ लेती है और अपनी भेदती आँखों से उसकी छानबीन करती है।

उसका पहनावा बाकी सब लोगों की तरह क्यों नहीं है? सन्देहास्पद। और जिस दिन सड़क पर सब धीरे चलते हैं, तो किस वजह से वह तेज चल रहा है? विचित्र...

दो नौजवान आदमी जोर से हँसते हुए जा रहे हैं। भीड़ सावधान हो जाती है। ऐसी जिन्दगी में हँसने के लिए क्या है, जहाँ सब कुछ इतना धुँधला है, जब करने के लिए कोई काम नहीं है? हँसी उस दानव रुपी भीड़ में एक हल्की कुढ़न पैदा करती है, जो हँसी-खुशी के खिलाफ है। अनेक सिर क्रोध में उनकी तरफ मुड़ते हैं और अपनी आँखों से उन लड़कों की जोड़ी का पीछा करते हुए बड़बड़ाते हैं...

लेकिन भीड़ खुद ठठाकर हँस पड़ती है जब वह अखबार बेचने वाले एक लड़के को उन ट्रामों से बचकर निकलते हुए देखती है जो चौराहे के तीन तरफ से उसके करीब आती जा रही हैं और कुचलने का डर दिखा रही हैं। मौत से डरे हुए व्यक्ति का डर कोई ऐसी चीज है जिसे भीड़ समझती है, और जीवन के रहस्यमयी दौड़-धूप में जो कोई चीज उसे आनन्द दे, उसे वह समझती है...

यहाँ, अपनी कार में एक आदमी सवार है जिसे शहर में, यहाँ तक कि पूरे देश में मालिक समझा जाता है। भीड़ उसे बड़ी गहरी दिलचस्पी से देखती है। वह अपनी ढेर सारी आँखों की एकटक निगाहों को एक ही नजर में घुला-मिला लेती है और उसे मालिक के मुरझाये, हड्डीदार और सूखे चेहरे पर डालते हुए धुँधले सम्मान से उसे निहारती है। यह कुछ इस तरह है जैसे बूढ़े भालू, जिन्हें छोटेपन से पाला गया हो, अपने मालिक को देखते हैं। भीड़ मालिक को जानती है कि वह एक शक्ति है। वह एक महान व्यक्ति है, जिसने हजारों तरह की कड़ी मेहनत की है इसलिए उसे हजारों वर्ष

जीना चाहिए! भीड़ मालिक का बिलकुल स्पष्ट अर्थ जानती है कि मालिक काम देता है। लेकिन वहाँ ट्राम में एक भूरे सिर वाला आदमी बैठा है, जिसका चेहरा भद्दा और आँखें कठोर हैं। वह कौन है यह भी भीड़ जानती है। उसका नाम अक्सर एक सनकी के रूप में अखबारों में छपता है जो राज्य को तबाह करना चाहता है, सभी कारखानों, रेलमार्गों, जहाजों और बाकी सब कुछ छीन लेना चाहता है... अखबार उसे एक पागल मजाकिया मंसूबा बताते हैं। भीड़ तिरस्कार, ठण्डे अपमान और नफरत भरी जिज्ञासा के साथ उस बूढ़े आदमी को देखती है। एक पागल आदमी हमेशा दिलचस्प होता है।

भीड़ केवल महसूस करती है, केवल देखती है। वह अपनी धारणा को विचारों में नहीं बदलती, उसकी भावना सुन्न होती है और उसका दिल अन्धा होता है।

लोग एक के पीछे एक, साथ-साथ चलते हैं और यह अजीब, समझ से परे और बयान से बाहर है कि वे कहाँ जा रहे हैं और क्यों? वे बड़ी संख्या में हैं और वे धातु, लकड़ी और पत्थर के टुकड़ों की तुलना में सिक्कों, कपड़ों और उन तमाम औजारों से कुछ अधिक अलग नहीं हैं जिसके जरिये कल उस दानव ने काम किया था। भीड़ को इससे चिढ़ है। वह अस्पष्ट रूप से यह महसूस करती है कि जो जिन्दगी वह जी रही है, उससे अलग तरीकों और आदतों वाला, अजीब लुभावनेपन से भरा, एक और जीवन है...

खतरे का सन्देह और चिढ़ की इस भावना से धीरे-धीरे भरते जाने से बनी बारीक सुइयाँ उस दानव के अन्धे दिल को खरोंचती हैं। दानव की आँखें गहरी काली हो जाती हैं, अचेत कोतूहल में जकड़ा उसका मोटा और बेडौल दिखता कसा शरीर बढ़ने लगता है और वह पूरी तरह से थर्राने लगता है...

लोग, ट्राम और सभी मोटर-वाहन चमकने लगते हैं... दुकान की खिड़कियों की चमकदार चीजें आँखों को चिढ़ाने लगती हैं। उनका उपयोग क्या है यह साफ नहीं, लेकिन वे ध्यान खींचती हैं और उन्हें हासिल करने की इच्छा जगाती हैं...

भीड़ व्याकुल हो उठी है...

वह इस जीवन में कमोबेश अकेला, असहाय और अच्छे पहनावे वाले लोगों द्वारा नकार दिया गया महसूस करती है। ये देखती है कि उनकी गर्दनें कितनी साफ हैं, उनके हाथ कितने सुडौल और गोरे हैं, उनके निश्चिन्त और खाये-पीये चेहरे कितने चिकने और चमकदार हैं। यह उनके खानपान को बिलकुल हूबहू चित्रित करता है, जो ये लोग रोज पेट भरकर खाते हैं। चेहरों को इतना आकर्षक बनाने वाला और पेट को इस तरह गोलमटोल भव्यता से भर देने वाला उनका भोजन गजब स्वादिष्ट होता होगा.....

भीड़ अपने भीतर ईर्ष्या की हलचल महसूस करती है, और इसके पेट में जोर-जोर से कुलबुलाहट होने लगती है...

सुन्दर और आकर्षक महिलाएँ चमकती महँगी गाड़ियों में सवारी करती हैं। अपने छोटे-छोटे पैरों को दिखाने के लिए टाँगों को बाहर की ओर फैलाती हुई, वे उत्तेजक तरीके से अपनी-अपनी गद्दियों पर आराम करती हैं। उनके चेहरे सितारों की तरह हैं और उनकी खूबसूरत आँखें लोगों की मुस्कान का स्वागत करती हैं।

"देखो हम कितनी प्यारी हैं!", औरतें बिना बोले ही कहती हैं।

भीड़ ध्यानपूर्वक इन महिलाओं को परखती है और उनकी तुलना अपनी पत्नियों से करती है। बहुत दुबली या बेहद मोटी पत्नियाँ हमेशा लालची और अक्सर बीमार होती हैं। किसी भी अंग से ज्यादा उनके दाँत उन्हें तकलीफ देते हैं और उनका पेट खराब रहता है। और वे हमेशा आपस में चिक-चिक करती रहती हैं।

भीड़ मन ही मन गाड़ियों में बैठी महिलाओं के कपड़े उतारती है, उनकी छातियों और टाँगों पर अपने पंजे मारती है। और महिलाओं के खाये-पीये, नंगे, सुडौल और चमकदार शरीर की कल्पना करती है, भीड़ अपनी खुशी को रोक नहीं पाती और वासना भरे शब्दों में आवाज देती है जो गर्म और तैलीय पसीने जैसी बदबू मारते हैं, ऐसे शब्द जो एक भारी-भरकम और गन्दे हाथ के थप्पड़ की तरह झन्नाटेदार और तीखे हैं...

भीड़ एक औरत चाहती है, दीप्तिमान सुन्दर स्त्रियों के पतले-दुबले लेकिन गठीले शरीर को लोलुपता से दबोचती इसकी आँखें चमकती हैं।

उनके बच्चे भी बहुत सुन्दर दिखते हैं। उनकी हँसी और रुदन हवा में गूँजती है। साफ सुथरे कपड़े पहने, सीधे और छरहरे पैरों वाले स्वस्थ बच्चे, गुलाबी गालों वाले और निर्भीक...

भीड़ के बच्चे बीमार और पीले चेहरे वाले होते हैं और उनके पैर किसी न किसी वजह से मुड़े हुए होते हैं। मुड़े पैरों वाले बच्चे होना आम बात है। यह जरूर माँ का दोष होगा, शायद उन्होंने उनको जन्म देते वक्त ऐसा कुछ किया होगा जो उन्हें नहीं करना चाहिए था...

ये तुलनाएँ भीड़ के कलुषित दिल में ईर्ष्या पैदा करती हैं।

उसके क्रोध में शत्रुता और जुड़ जाती है, जो ईर्ष्या की उपजाऊ जमीन पर हमेशा ही भरपूर तरीके से फलती-फूलती है। विशाल काला शरीर फूहड़ता से अपने अंगों को फैलाता है, उसकी सैकड़ों आँखें जिस किसी को विचित्र और अबूझ पाती हैं, उससे एक इरादे के साथ मिलती हैं और चुभन भरी नजर से उन्हें घूरती हैं।

भीड़ को लगता है कि उसका एक चालाक और शक्तिशाली शत्रु है जो हर जगह मौजूद है और इसलिए कपटी है। वह कहीं निकट ही है और फिर भी कहीं नहीं है। उसने अपने लिए सभी स्वादिष्ट व्यंजन, खूबसूरत महिलाएँ, गुलाबी बच्चे, गाड़ियाँ, चमकीले रेशमी कपड़े हथिया लिये हैं और ये सब वह उन लोगों को बाँट देता

है, जिनको वह चुनता है-- लेकिन भीड़ को नहीं देता। वह भीड़ से घृणा करता है, नकारता है और उसकी परवाह नहीं करता है, उसी तरह भीड़ भी उसकी परवाह नहीं करती है...

भीड़ ढूँढती है, सूँघती है; यह सब कुछ देखती है। लेकिन सब कुछ सामान्य है। हालाँकि सड़कों के जीवन में बहुत कुछ ऐसा है जो नया और अजीब है, ये चलती रहती हैं, भीड़ की शत्रुता के सख्त ताने-बाने और किसी को पकड़ने और कुचल देने की धुँधली इच्छा को छुये बिना, यें उसे पीछे छोड़ देती हैं।

चौराहे के बीचोंबीच सलेटी हैलमेट में एक पुलिस वाला खड़ा है। अच्छे से हजामत किया हुआ उसका चेहरा, ताँबे की तरह चमकता है। यह व्यक्ति अदम्य रूप से मजबूत है-- यह गोलियों से भरी हुई एक छोटी और भारी बन्दूक रखता है।

भीड़ अपनी कनखी से बन्दूक को देखती है। वह बन्दूकों से परिचित है, भीड़ ने उनमें से सैंकड़ों और हजारों को देखा है और वे सभी बस धातु या लकड़ी की बनी होती हैं।

लेकिन इस छोटी और बेडौल बन्दूक में एक ऐसी राक्षसी ताकत छिपी है जिसका सामना कोई आदमी नहीं कर सकता।

भीड़ आँख मूँदे हर चीज से धुँधली-धुँधली सी शत्रुता रखती है। यह उत्तेजित और किसी भयावह घटना के लिए तैयार रहती है। ये अपनी आँखों से लालसापूर्वक छोटी, बेडौल बन्दूक को तोलती है...

अचेतन मन के गहरे कूड़े में, भय सदैव ही भीतर-भीतर सुलगता है...

जीवन अपनी गति में अथक, लगातार दहाड़ता है। जब भीड़ काम पर नहीं होती है, उस दिन उसे यह ऊर्जा कहाँ से मिलती है?

अधिक से अधिक स्पष्टता के साथ भीड़ महसूस करती है कि वह कितनी अकेली है, कुछ ठगी सी अनुभव करती है और इसकी झल्लाहट बढ़ती जाती है, इन्तजार करती है कि अब किस पर हाथ डालना है।

यह अब नयी धारणाओं के प्रति संवेदनशील और ग्रहणशील हो गयी है-- कोई भी नयी चीज इसकी नजरों से नहीं बचती है। इसकी हँसी अधिक तीखी और ईर्ष्या से भरी है, और इसकी हँसी-ठिठोली करती निगाह की चुभन और टिप्पणियों की तीखी फटकार के कारण, उस चौड़े किनारों वाले सलेटी हैट पहने आदमी को अपने कदमों को तेज कर लेना जरूरी हो जाता है। एक औरत, जैसे ही मैदान पार करती है, अपनी स्कर्ट को थोड़ा ऊँचा उठाती है, लेकिन जैसे ही वह देखती है कि भीड़ उसकी टाँगों को घूर रही है, उसकी उँगलियाँ अचानक काँपने लगती हैं, जैसे किसी ने उसके हाथ पर जोर से चोट की हो, और वह अपनी स्कर्ट नीचे कर लेती है...

कहीं से एक शराबी चौराहे पर आ जाता है। उसका सिर उसके सीने पर झूल रहा है, वह कुछ बुदबुदाता हुआ चलता है। शराब में धुत उसका शरीर कमजोरी से हिलता-डुलता है और किसी भी क्षण वह फुटपाथ या रेल की पटरी से टकरा सकता है...

एक हाथ उसकी जेब के अन्दर है। दूसरे में उसने एक तुड़ा-मुड़ा सा धूल भरा टोप पकड़ा है। वह इसे अपने सिर के ऊपर लहराता है, और कुछ नहीं देखता।

झनझनाती आवाजों के जंगली भँवर में बहता वह थोडा होश में आता है, रुकता है और धुँधली आँखों से अपने चारों ओर देखता है। गाडियाँ और कारें चारों तरफ से उसकी ओर तेजी से बढ़ रही हैं-- एक ऐसा लम्बा, हिलता-डुलता धागा जिस पर काले मोती जड़े हुए हों। क्रोध भरी चेतावनी के साथ गाड़ियों से घण्टों की आवाजें आती हैं, घोड़े की नाल की खट-खट होती है, सब कुछ गूँजता है, खड़खड़ाता है और खुद को उसकी तरफ ठेलता है।

भीड़ कुछ मनोरंजक होने की उम्मीद करती है। फिर से यह अपनी सैंकड़ों निगाहें एक में घुला-मिला लेती है और उम्मीद से टकटकी लगाती है...

मोटर गाड़ी वाला आदमी घण्टी बजाता है और बाहर झुककर शराबी पर चिल्लाता है, उसका चेहरा परेशानी से लाल है। शराबी स्नेहपूर्वक उसके सामने अपना टोप हिलाता है और उसके बिल्कुल सामने वाली रेल की पटरी पर कदम रखता है। उसका पूरा शरीर पीछे की ओर झटका खाता है, उसकी आँखें बन्द हो जाती हैं, मोटर वाला आदमी तेजी से गाड़ी के हैण्डल को इधर-उधर झटकता है। कार झटका खाती है और रुक जाती है...

शराबी धीरे-धीरे साथ चलता है-- उसने अपना टोप पहन लिया है और उसका सिर फिर से उसके सीने पर लटक गया है।

लेकिन पीछे से पहली, फिर दूसरी गाड़ी धीरे-धीरे निकलती है और शराबी के पैरों पर उसके नीचे से ठोकर मारती है। वह जोर से मडगार्ड पर गिर जाता है, फिर धीरे से रेल की पटरी की तरफ गिरता है, और मडगार्ड उसे धक्का देता है और उसके तुड़े-मुड़े शरीर को जमीन पर घसीटता है.....

शराबी के हाथ और पाँव जमीन के ऊपर पटके जाते देखे जा सकते हैं। एक संकेत और फिर खून की पतली लाल रेखा बहने लगती है...

कार में बैठी महिलाएँ कर्कश आवाज में चीखती-चिल्लाती हैं, लेकिन सभी आवाजें भीड़ की गहरी और उल्लसित गर्जन में दब जाती हैं-- यह ऐसा है जैसे एक गीली और भारी, बड़ी चादर अचानक उन पर फेंक दी गयी हो। कर्कश घंटियों की आवाज, जानवरों के खुरों की टाप, बिजली की मिनमिनाहत ये सब भीड़ के डर से दब गयी हैं, एक काली लहर जो एक दानव की तरह आगे की तरफ बढ़ती है,

दहाड़ती है, गाड़ियों के सामने टकराती है, उन सब के ऊपर अपनी काली बौछारों को छोड़ती है और अपना काम शुरू करती है।

डर से हाँफते-काँपते, कार की खिड़की का शीशा टुकड़ों-टुकड़ों में बिखर गया। भीड़ के अनगिनत छटपटाते और काँपते शरीर के अतिरिक्त कुछ भी दिखाई नहीं देता है, और इसकी चीख और उल्लसित चिल्लाहट के अतिरिक्त कुछ सुनाई नहीं देता है जिसके जरिये यह अपनी ताकत का दावा करती है और यह घोषणा करती है कि उसने आखिरकार करने के लिए कुछ पा लिया है।

सैंकड़ों बड़े हाथ हवा में लहराते हैं; बहुत सी आँखें एक अजीब, तीखी भूख की लोलुप चमक के साथ जगमगाती हैं।

अन्धी भीड़ किसी को मुक्के से मारती है; यह उसको नोचती-खसोटती है, यह प्रतिशोध की भावना में बदला लेती है...

इस मिलीजुली चीख की आँधी से, एक बेहद जोरदार फुसफुसाती आवाज आती है जो तेज धार वाले लम्बे चाकू की तरह चमकती है---

"मार डालो!"

इस शब्द में भीड़ की सभी अस्पष्ट इच्छाओं को इकट्ठा करने की और इसकी चीख को एक तीखी दहाड़ में बदलने की जादुई शक्ति है---

"मार डालो!"

भीड़ का एक हिस्सा गाड़ियों की छतों पर कूदने लगता है और वहाँ से भी हवा में लहराते और चाबुक की तरह सरसराते हुए एक शब्द आता है---

"मार डालो!"

भीड़ के बीचोंबीच, एक कसा हुआ गोला बन गया है; इसने कुछ निगल लिया है, अपने अन्दर कुछ सोख लिया है और खुले में बाहर बहता हुआ हलचल कर रहा है। भीड़ के मोटे शरीर पर सहज ही, बीच से एक दबाव पड़ता है और छिटकते हुए भीड़ के फूले हुए काले पिण्ड अपनी आँतें, अपने सिर और अपने जबड़ों को बाहर निकालते हैं।

इसके दाँतों में एक फटी हुई, रक्तरंजित आकृति झूलती है-- वही मोटरगाड़ी वाला आदमी जिसे उसके कपड़ों के बचे हुए टुकड़ों की धारियों के कारण कोई भी पहचान सकता है।

अब यह केवल चबाया गया मांस का एक टुकड़ा है, ताजा मांस जो भूख बढ़ाने वाले चमकीले लाल खून में सराबोर है।

भीड़ के काले जबड़े उसे अब भी, कुचलते हुए साथ-साथ घसीटते हैं और इसके हाथ बिना चेहरे वाले ऑक्टोपस की भुजाओं की तरह उसके शरीर से लिपटे हैं।

भीड़ चिघाड़ती है---

"मार डालो!"

और यह अपने सिर के पीछे की ओर बढ़ती है, एक लम्बे, मोटे शरीर का आकार लेती है जो भारी मात्रा में ताजा मांस निगलने के लिए तैयार है।

लेकिन अचानक हजामत किये, ताँबे जैसे चेहरे वाला एक आदमी उसके सामने आता है। उसने अपने सलेटी हैलमेट को अपनी आँखों के नीचे खींच लिया है और वह भीड़ के आगे एक भूरी चट्टान की तरह खड़ा है, उसकी बन्दूक हवा में चुपचाप लहराती है।

बन्दूक से बचकर निकलने के लिए भीड़ का सिर कभी दायीं तो कभी बायीं ओर घूमता है।

पुलिसकर्मी डटकर खड़ा है, बन्दूक उसके हाथ में डगमगाती नहीं और उसकी कठोर आँखें एकटक और चौकस हैं।

पुलिसकर्मी के आत्मविश्वास की ताकत भीड़ के दहकते चेहरे को ठण्डा कर देती है।

अपनी भारी-भरकम, शक्तिशाली, ज्वालामुखी जैसी इच्छाशक्ति के बदले कोई आदर-सम्मान मिले बिना भी, यदि कोई व्यक्ति अकेले, इतने पास खड़ा रह सकता है, यदि वह इतनी दृढ़ता से खड़ा रह सकता है-- तो वह निश्चित ही अजेय होगा!...

भीड़ उसके सामने कुछ चिल्लाती है, यह अपनी भुजाओं को ऐसे लहराती है जैसे उन्हें पुलिसकर्मी के चौड़े कन्धों के चारों ओर लपेट लेगी, फिर भी इसकी चीख में क्रोध के बावजूद एक दर्दनाक स्वर है। और जब पुलिसकर्मी का ताम्बे जैसा चेहरा कठोरता से काला होने लगता है, जब वह छोटी, बेडौल बन्दूक लिए हाथों को ऊपर उठाता है-- भीड़ की दहाड़ती हुई आवाज अजीब ढंग से थम जाती है और उसका धड़ आहिस्ता-आहिस्ता बिखरने लगता है; लेकिन सिर अब भी बड़बड़ाता है, यहाँ-वहाँ मुड़ता है; यह रेंगना चाहता है।

बन्दूक लिए दो और आदमी धीरे-धीरे पास आते हैं। भीड़ की भुजाओं का फैलना अचानक धीमा हो जाता है और वे अपने शरीर को उनकी चपेट में आ जाने देते हैं; शरीर घुटनों के बल झुक जाता है, खुद को कानून के रखवालों के कदमों पर झुका देता है, और वह अपने अधिकार के छोटे और बेडौल प्रतीक चिन्ह को उसके ऊपर उठाता है...

भीड़ का सिर भी अब धीरे-धीरे टुकड़े-टुकड़े होने लगता है। अब इसका कोई धड़ नही है, मैदान पर सब जगह थके और हारे हुए आदमी रेंगने लगते हैं, उनकी काली आकृतियाँ मैली सतह पर एक बड़े माले के काले मोतियों की भाँति बिखरने लगती हैं।

नालों जैसी सड़कों के भीतर, लोग डरे हुए और चुपचाप घूमते हैं। टूटे हुए लोग, बिखरे हुए लोग.....

अनुवाद-- रुचि मित्तल

मीर तकी मीर : 'पर मुझे गुफ्तगू आवाम से है'

(फरवरी 1723 - सितम्बर 1810)

-- विजय गुप्त

मीर की उस्तादी के बारे कोई लिखे भी तो कैसे लिखे? वहाँ तो जिन्दगी के कई रंग हैं। रंगों की कई छायाएँ हैं। युग का गर्दो-गुबार है, बवण्डर है। प्रकाश है, अन्धकार है। एक रंग पकड़ो तो दूसरा छूट जाता है। एक छाया के पीछे भागो तो दूसरी छाया गायब। प्रकाश का चकमक देखो तो परदे के पीछे से निकल कर अँधेरा डस लेता है। सहज, सरल और सीधा रास्ता अचानक बहुत जटिल मोड़ों और घुमावों से भर जाता है। मीर लिखते भी हैं कि आदमी का इनसान बनना बेहद गैरमामूली और विकट तपस्या और साधना का काम है। वैसे ही अल्फाजों का मानीखेज होना जी और जान को आग में जलाने जैसा है। इनसान बनना और शायर बनना जरा भी आसान काम नहीं हैं।

मत सहल हमें जानो, फिरता है, फलक बरसों
तब खाक के परदे से, इनसान निकलते हैं

मीर उर्दू शायरी के अनोखे कीमियागर हैं। वह धूल से भरे शब्दों को छूकर उनमें सोने की चमक भर देते हैं। मीर की कविताई 'मीडास टच' का जादू है। राजा मीडास जिस चीज को छूता है, वह सोना हो जाती है। लेकिन छूने छूने में अन्तर है। मीडास के छूने में लक्ष्मीपति बनने और सर्वाधिकार रखने की स्वार्थ भरी क्रूर लालसा है जबकि मीर के छूने में कोमलता, प्रेम, पीड़ा और करुणा का पवित्र भाव सर्वोपरि है।

शायद अब टुकड़ों ने दिल के, कस्द[1] आँखों का किया
कुछ सबब तो है, जो आँसू आते आते थम गये (1. इरादा)

उर्दू के अजीम शायर फिराक गोरखपुरी साहब ने सुमत प्रकाश शौक से कविता और व्यक्तित्व पर जरूरी और ऐतिहासिक बातचीत की है।[(1)] उन्होंने काव्य संसार के जादुई आकर्षण और रहस्य को उजागर किया है। कला की सुन्दरता और उसके आध्यात्मिक-नैतिक असर की तार्किक, मार्मिक और वैज्ञानिक व्याख्या की है। शब्द, अर्थ और लय की शक्ति और गति को उन्होंने सृष्टि और सृजन का आधार माना है। सृजन यानी हुस्न, इश्क और नूर की अटूट धारा। यह त्रिधारा नहीं तो जीवन नहीं, रचना नहीं।

उसके फरोग-ए-हुस्न[1] से, झमके है सब में नूर
शम्-ए-हरम[2] हो या कि दीया सोमनात का
(1. सौन्दर्य का प्रकाश 2. काबे का चिराग)

हुस्न हो अथवा दीया हो, ये तब ही प्रकाशित होंगे जब सघन प्रेमानुभूति होगी। सघन प्रेमानुभूति ही तो रचना है; और रचना है तो प्रेम, करुणा, दुःख और आँसू से धुला हुआ उदात्त जीवन है।

मीर तकी मीर की कविता संसार को लिखा गया अमर प्रेम पत्र है। इस प्रेम पत्र में अगन है, तपन है। सुख है, दुःख है और सृजन का पूरा ब्रह्माण्ड है। प्रेम है, तब ही सृजन है; और प्रेम भी कैसा? कबीर के ढाई आखर जैसा। धरती और गगन की तरह विस्तृत और फैला हुआ। मीर लिखते भी हैं कि--

दिल की तह की कही नहीं जाती, नाजुक है असरार बहुत
अछर हैं तो इश्क के दो ही, लेकिन है विस्तार बहुत

इश्क के इस विस्तार में मिलन है, बिछोह है, वेदना है, तिरस्कार है। हृदय को चीरते हुए अपमान के खंजर हैं तो हँसती हुई छलछल आँखें भी हैं। मीर कलियों और फूलों के शैदाई हैं तो विपत्तियों और दुर्भाग्य के मारे हुए भी हैं। वह ध्वंस पर नयी इमारत के कारीगर हैं। वह प्रकृति की तरह ही साहित्य में निरन्तर बदलते मूल्यों और शाहकारों के रचयिता हैं और परिवर्तन के सक्रिय पक्षधर हैं। वह फूल, आग और राख के महाकवि हैं। ध्वंस और निर्माण उनकी रगों में रक्त और आँसू की तरह बहते हैं।

कोई शोला है कि शरारा है, कि हवा है यह कि सितारा है
यही दिल जो लेके गड़ेंगे हम, तो लगेगी आग मजार में

और यह भी कि--

शायद कि कल्ब-ए-यार[1] भी टुक इस तरफ फिरे
मैं मुन्तजिर जमाने से हूँ, इन्किलाब[2] का
(1. प्रेमिका का दिल 2. परिवर्तन)

मीर ने अपनी जिन्दगी और शायरी में इन्कलाब को साकार किया। भीषण जीवन संघर्ष और प्रतिकूल परिस्थितियों के बीच उन्होंने परिवर्तन के ख्वाब देखे और ख्वाबों की ताबीर की। परिवर्तन की चिंगारियाँ उनके काव्य संसार को बहुत दिलकश, अपारम्परिक और तीर की तरह नुकीला बनाती हैं। उन्होंने भाषा के बन्धन को तोड़ दिया और उसे वेगवान झरने में बदल दिया। "सीधी-सादी बोल-चाल की भाषा में इतना रस और इतनी मिठास, इतना विष, और इतना कड़वापन, हार्दिक भावनाओं का इतना कोमल चित्रण और भावनाओं का इतना तूफानी जोश काव्य रचना का एक चमत्कार जान पड़ता है।"[(2)]

'मीर' के दीनो मजहब को क्या पूछते हो तुम, उनने तो
कशका[1] खेंचा, दैर[2], में बैठा, कब का तर्क इस्लाम किया
(1. तिलक लगाया 2. मन्दिर)

मीर के जीवन और काव्य की प्रेरणा का आधार प्रेम और इनसानियत है। स्वयं से प्रेम। संसार से प्रेम। भीतर से बाहर की ओर बहना, संसार को अपनी आत्मा में समेटना और लीक से हटकर सृजन करना उनका सहज स्वभाव है। उनकी गजलों में उनका भीषण दुःख देखा जा सकता है, उनके असह्य दर्द को महसूस कर के उनके युग के दर्द और यातना को समझा जा सकता है। मीर का काव्य इनसानियत और अपने युग का आइना है।

मिस्रा कोई कोई कभी, मौजूँ करूँ हूँ मैं
किस खुश सलीकीगी से जिगर खूँ करूँ हूँ मैं

शेर लिखना आसान काम नहीं है। यह जिगर को चाक कर खून से तर-ब-तर कर देने जैसा है, और वह भी, बाशऊर, बाकायदा, खुशदिली और हुनरमन्दी के साथ। मीर तकी मीर ने शायरी की जबान को जन-मन से जोड़ा। अपने सुख को सुगन्ध की तरह फिजा में बिखेरा और दुःख को आँसुओं की धार देकर सबका बना दिया। उन्होंने जनता की बोली-बानी को एकदम नया रंग-रूप, विस्तार और आकार दिया और वली दकनी की लोक परम्परा को सार्थक और बहुरंगी मोड़ दिया।

मेरे मालिक ने, मिरे हक में, यह एहसान किया
खाक-ए-नाचीज था मैं, सो मुझे इनसान किया
मुझको शाइर न कहो मीर, कि साहब मैंने
दर्द-ओ-गम कितने किये जमा, तो दीवान किया

उर्दू के पहले युग प्रवर्तक कवि वली दकनी को बहुत प्यार और सम्मान से बाबा-ए-रेख्ता भी कहा जाता है। उन्होंने अपनी गजलों में जन-भाषा का जैसा अभिनव प्रयोग और मनमोहक सम्मिश्रण किया था उसे मीर ने उत्कर्ष तक पहुँचा दिया। अठारहवीं शताब्दी के शुरुआती दौर में फारसी और संस्कृत दरबार और उच्चवर्ग की भाषा थी। आम जन जिस जबान का इस्तेमाल करता था उसे हिन्दी, रेख्ता, खड़ी बोली या जबान-ए-देहलवी कहा जाता था। "मुगल काल और उससे पूर्व के जमाने में उच्च वर्ग साहित्यिक अभिव्यक्ति के लिए संस्कृत और फारसी का उपयोग करते थे। हालाँकि मुगल हरम में पंजाबी और ब्रजभाषा बोली जाती थी लेकिन दरबार में फारसी का चलन था। इसके विपरीत हिन्दी के सन्त कवियों और उर्दू के सूफी शाइरों ने जनता की बोलियों को अपनाया और कबीर, मीरा, मलिक मुहम्मद जायसी, सूरदास, तुलसीदास, वली दकनी, सौदा और मीर ने उच्च श्रेणी के शाहकार पेश किये जो दुनिया की दूसरी भाषाओं की उच्च श्रेणी की शाइरी से आँखें मिला सकते हैं। वली दकनी के यहाँ पहली बार खड़ी बोली निखरने लगती है, लेकिन मराठी और तेलगू के दक्षिणी शब्दों के सम्मिश्रण के साथ। सौदा और मीर ने उसकी सफाई और सजावट करके उसे वर्तमान काल की प्रमाणित भाषा बना दिया।"[3] इन उस्ताद कवियों की लोकलुभावन भाषा की बानगी और ताजगी देखिए--

बेवफाई न कर खुदा सूँ डर
जग हँसाई न कर खुदा सूँ डर-- वली दकनी

* * *

सावन के बादलों की तरह से भरे हुए
यह वह नयन हैं जिनसे कि जंगल हरे हुए- सौदा
वह सूरतें इलाही किस देस बस्तियाँ हैं
अब जिनके देखने को आँखें तरसतियाँ हैं-- सौदा

* * *

यार अजब तरह निगह कर गया
देखना वह, दिल में जगह कर गया-- मीर

मीर तकी मीर की अद्भुत मेधा और प्रतिभा का इस्तकबाल करते हुए मिर्जा गालिब ने लिखा था कि--

रेख्ते के तुम्हीं उस्ताद नहीं हो गालिब
कहते हैं अगले जमाने में कोई मीर भी था

मीर की उस्तादी यहाँ देखते बनती है। 'आँसू आते-आते थम गये, यानी दुःख आँखों के रास्ते बहा नहीं। आँसू बहते तो चैन मिलता। देह का तनाव मुक्त होता। रक्त का दबाव सामान्य होता। लेकिन यहाँ तो बेहद असामान्य रक्तचाप है। फिर चैन कहाँ? आँसू देह के ताप और तनाव में घनीभूत हो गये हैं। परिणाम, असहनीय दबाव और दिल के टुकड़े! 'टुकड़े' शब्द भी यहाँ दो अर्थ देता है। एक, कवि का टूटा हुआ दिल और दूसरा, उजाड़ और बरबाद नगरी में रहने वालों के टुकड़े-टुकड़े दिल। दिल्ली मीर के समय उजड़ चुकी थी। लुटी हुई दिल्ली की किस्मत पर रंज करते और सहारे की तलाश में आवारा भटकते मीर की इन पंक्तियों में की-वर्ड 'सबब' है। किन कारणों से दिल्ली लुटी और तबाह हुई? कैसे मीर का दिल टूटा? कुछ तो सबब होगा?

दिल की वीरानी का क्या मज्कूर[1] है
यह नगर सौ मरतबा लूटा गया (1. चर्चा, जिक्र)

दिल्ली जैसे हँसते-दमकते नगर के लोग कैसे दाने-दाने को मोहताज और भिखारी हो गये?

दिल्ली में आज भीख भी मिलती नहीं उन्हें
था कल तलक दिमाग जिन्हें, ताज-ओ-तख्त का

दिल, दिल्ली और ताज-ओ-तख्त उजड़ गये। क्यों? मीर तो बस संकेत देते हैं। उन संकेतों को समझने का काम, उन्हें राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक जटिलताओं में खोलने और अर्थ देने का काम मीर को सुनने और पढ़ने वालों का है। प्रेम और इनसानियत का पाठ यदि आपने नहीं पढ़ा और सीखा है तो मीर का काव्य आपके किसी काम का नहीं है। अमीर खुसरो ने सिखाया है कि--

खुसरो दरिया प्रेम का, उल्टी वा की धार।
जो उतरा सो डूब गया, जो डूबा सो पार।।

मीर भी लिखते हैं कि--

वस्ल-ओ-हिज्राँ, यह जो दो मंजिल हैं राह-ए-इश्क की

दिल गरीब इनमें खुदा जाने कहाँ मारा गया

और यह भी फरमाते हैं कि--

दूर बैठा, गुबार-ए-मीर, उससे
इश्क बिन, यह अदब आता नहीं

दिल्ली उजड़ कर बर्बाद हो चुकी थी और मीर का दिल भी टूटकर शिकस्ता रंग हो चुका था।

दिल वो नगर नहीं कि फिर आबाद हो सके
पछताओगे, सुनो हो! ये बस्ती उजाड़ के

* * *

कामत[1] खमीदा[2], रंग शिकस्ता[3] बदन[4] नजार[5]
तेरा तो 'मीर' गम में अजब हाल हो गया

(1. कद 2. झुका हुआ 3. उड़ा हुआ 4. शरीर 5. जर्जर)

मीर टूटे हुए दिल और उजड़ी हुई दिल्ली के जलते हुए प्रतीक हैं। जब-जब इस दुनिया में मुल्क और इनसान उजड़ेंगे, घर-बार और रोजगार छोड़ कर सरे राह होंगे, तब-तब मीर याद आएँगे। हिन्दुस्तान ने कई बार यह दिल दहला देने वाला मंजर देखा है। नादिरशाह और अहमद शाह अब्दाली के जमाने में खून और लाशों से भरी दिल्ली की सड़कों पर बदहवास चलते हुए भूखे-प्यासे और मरते हुए इनसानों के जत्थे, 1947 के रक्तरंजित विभाजन की हौलनाक तस्वीरें इतिहास के पन्नों में भयानक काली रात के रूप में दर्ज हैं। और आज, इक्कीसवीं सदी में, हम अपने ही देश के रास्तों पर उजाड़ दिये गये, रोजगार से बाहर फेंक दिये गये, निर्ममता से ठुकराये गये भूखे-प्यासे गरीब, लाचार और हताश लाखों लोगों को घरों की ओर पैदल जाता देख रहे हैं। धूल भरी तपती-जलती राहों पर बच्चों को जनमते और तड़पते देख रहे हैं। भूख, प्यास, थकान से बिलखते और मरते हुए स्त्री-पुरुषों और मासूम बच्चों को देख रहे हैं। सर पर, काँधों पर और हाथों में गिनती के गृहस्थी के सामानों को जैसे-जैसे लादे-फाँदे, बेबस और सुध-बुध खोये हुए मेहनतकशों की हजारों-हजार कतारों को जिन्दा लाशों की तरह देख रहे हैं। 21 वीं सदी के डिजीटल इण्डिया, स्टार्ट अप इण्डिया, नमो इण्डिया, मोदी इण्डिया के ये दिल पथरा देने वाले दृश्य अठारहवीं, उन्नीसवीं और बीसवीं सदी के हत्यारे दृश्यों की याद दिलाते हैं। मानो हम इतिहास के पाताललोक में चले गये हों और एक विशाल सिनेमा स्क्रीन पर प्रेतों का नग्न नर्तन और क्रन्दन देख रहे हैं। नादिरशाह, अब्दाली, और डायर का अट्टहास सुन रहे हैं। सुदूर अतीत की भुतहा और डरावनी फिल्मों के फ्लैशबैक देख रहे हैं। अदालतें हतप्रभ हैं; देश की संसद साजिशन मौन है और झूठों की आरती उतारी जा रही है। एक वीरान चुप्पी छाई हुई है लेकिन चुप और अन्धेरे की दीवार को तोड़ती हुई मीर की आवाज हम तक पहुँच रही है कि--

सुना है हाल, तिरे कुश्तगाँ[1] बेचारों का
हुआ न गोर गढ़ा[2], उन सितम के मारों का
हजार रंग खिले गुल चमन के, हैं शाहिद[3]
कि रोजगार[4] के सर, खून है हजारों का

(1. कत्ल किये हुए, बाधित 2. अंतिम संस्कार 3. गवाह 4. संसार, समय)

कत्ल कर दिये गये बेगुनाह और सितम के मारों को इज्जत की मौत भी नसीब नहीं हुई। उन बेचारों को न कब्र मिली और न ही उनका अन्तिम संस्कार किया गया। चमन के हजारों फूल गवाह हैं कि बेहिसाब कत्ल का सेहरा तुम्हारे सिर ही बँधा है। तुम सरापा खून से तर-ब-तर और कातिल हो। अठारहवीं सदी की रात को बीसवीं सदी की रात में तब्दील होता देखकर शायर नासिर काजमी ठीक कहते हैं कि, हमारे दौर की रात मीर के दौर की रात से मिलती है।

मीर फारसी आत्मचरित 'जिक्रे मीर' में लहू से नहाई हुई रातों एवं जुल्म और कत्ल-ए-आम से भरे दिनों का दिल दहला देने वाला विवरण देते हैं।

"हजारों खानाखराब इस हंगामे से निकलकर निराश होकर वतन त्याग गये। मगर रास्ते में ही मर गये-- एक आलम उनके अत्याचार से मर गया मगर किसी को भी दम मारने की मजाल न थी। पुराने शहर का इलाका जिसे जहान-ए-ताजा' कहते थे, किसी गिरी हुई रत्नजटित दीवार-जैसा था। जहाँ तक नजर जाती थी मकतूलों के सर, हाथ, पाँव और सीने ही नजर आते थे, जहाँ तक आँख देखती थी खाक-ए-सियाह के सिवा कुछ दिखाई न देता था। मैं कि फकीर था अब और ज्यादा दरिद्र हो गया, सड़क के किनारे जो मकान रखता था वह भी ढहकर बराबर हो गया।"[(4)] मीर ने अपना असहनीय दुःख कुछ इस तरह से व्यक्त किया है--

क्या करूँ शरह,[1] खस्तःजानी की
मैंने मर-मर के जिन्दगानी की (1. टीका, वर्णन)

दिल्ली का दुःख और मीर का दुःख एक दूसरे से मिलकर शायरी ही नहीं इतिहास भी रचते हैं। इतिहास जिन इलाकों में एक नजर डाल कर निकल जाता है, वहीं शायरी कहीं गहरे डूबकर सच को सतह पर ले आती है। शायरी दिल की लगी के साथ-साथ देश-जहान का तब्सिरा भी है। सच की जाँच-पड़ताल भी है। प्रोफेसर एहतेशाम हुसैन ने मार्के की बात लिखी है कि, "जैसी दुःख-भरी हालत दिल्ली की थी, वैसा ही जीवन 'मीर' का था। अगर कोई उस पतनशील समाज का काव्यात्मक रूप उसकी सारी शोकपूर्ण गहराइयों के साथ देखना चाहे, तो वह उसे उस समय के इतिहास में न पायेगा बल्कि 'मीर' की कविताओं में उसे स्पष्ट रूप से दीख पड़ेगा।"[(5)]

मीर इश्किया शायरी के सिरमौर हैं। वह दिल की बस्ती को तमाम तरह के पूजाघरों से ऊपर रखते हैं। सत्ता के टुकड़खोरों और धर्म के व्यापारियों पर यानी नौकरशाहों और पण्डित, मुल्ले-मौलवियों पर तंज करते हैं। उन पर हँसते हैं और आम जनता के हाल-अहवाल पर दिल से लिखते हैं।

शेर मेरे हैं सब ख्वास पसन्द
पर मुझे गुफ्तगू अवाम से है

अवाम से मीर की गुफ्तगू बड़े काम की है। इस गुफ्तगू और दोतरफा आवाजाही में वह स्वयं सचेत होते हैं और जनता को

सावधान भी करते हैं--

हम न कहते थे, कि मत दैर-ओ-हरम की राह चल
अब यह दावा, हश्र तक शेख-ओ-बिरह्मन में रहा

'शेख-ओ-बिरह्मन' के पाखण्ड और झगड़े में रोटी तो पण्डित और मौलवी की ही पकती है लेकिन चूल्हा अवाम का बुझता है। मीर असलियत बयान करते हैं कि--

शेख जो है मस्जिद में, नंगा रात को था मैखाने में
जुब्बा,[1] खिर्का,[2] कुर्ता, टोपी मस्ती में इनआम किया

(1. लम्बा अंगरखा 2. ऋषि या फकीर की उतरी हुई पोशाक)

इनका एक रूप और देखिए--

शैखजी आओ, मुसल्ला[1] गिरव-ए-जाम[2] करो
जिन्स-ए-तकवा[3] के तईं, सर्फ-ए-मै-ए-खाम[4] करो

(1. जानमाज, वह कपड़ा जिसे बिछाकर नमाज पढ़ते हैं 2. जाम प्राप्त करने के लिए गिरवी रखना 3. संयम की वस्तु 4. कच्ची शराब प्राप्त करने के लिए खर्च करो)

अल्लाह और भगवान को करीब से जानने का दावा और दम्भ करने वालों की यह हकीकत भी देखिए कि--

काबे सौ बार वह गया, तो क्या
जिसने याँ एक दिल में राह न की

दिल से दिल की राह होती है और इसी मुकद्दस राह पर चलते हुए भक्ति के फूल खिलते हैं। भक्त कवियों ने दिल को ही ईश्वर का घर माना है। ईश्वर 'दैर-ओ-हरम' में नहीं, दिल में बसते हैं।

दैर-ओ-हरम से गुजरे, अब दिल है घर हमारा
है खत्म इस आब्ले[1] पर, सैर-ओ-सफर हमारा (1. छाला)

मीर अपने अल्लाह को अवाम में ढूँढते हैं। जनता की आवाज में ही जनार्दन की आवाज सुनाई देती है। मीर अवाम की आवाज को, उसके ख्वाब को और दिल को शिद्दत से समझते हैं। वह जानते हैं कि ईंट, पत्थर से बनी इमारतें बार-बार बन सकती हैं, मन्दिर-मस्जिद और तरह-तरह के पूजा घर फिर से खड़े किये जा सकते हैं लेकिन दिल की बस्ती उजड़ी तो फिर नहीं बसायी जा सकेगी--

शहर-ए-दिल आह अजब जाय[1] थी, पर उसके गये
ऐसा उजड़ा कि किसी तरह बसाया न गया (1. जगह)

उनका इश्क पागलपन की हद तक माशूक से है लेकिन उनका वही माशूक उन्हें दीन-दुनिया से भी वाबस्ता रखता है, चाक-चौबन्द रखता है। वह प्रेम में डूबे हुए हैं लेकिन दुनिया से गाफिल नहीं हैं। वह प्रेम में चोट खाते हैं, धोखा पाते हैं, टूटते हैं, अपमानित होते हैं।

अय दोस्त, कोई मुझ-सा, रुस्वा न हुआ होगा
दुश्मन के भी दुश्मन पर, ऐसा न हुआ होगा

रुसवाई जो जमाने ने उन्हें दी है, मीर उसे अपनी ताकत में बदल देते हैं। वह लोक में प्रचलित प्रेम के प्रतीक मजनूँ को भी नहीं बख्शते। इस तंजिया शेर में उनकी गर्वोक्ति देखते बनती है--

दिल तड़पे है, जान खपे है, हाल जिगर का क्या होगा
मजनूँ मजनूँ लोग कहे हैं, मजनूँ क्या हम सा होगा

मीर आशिक हैं लेकिन मजनूँ नहीं हैं। वह होशमन्द हैं। मजनूँ की तरह नकारा नहीं हैं। वह निठल्ले कामयोगी नहीं हैं, बल्कि दुरन्देश कर्मयोगी हैं। मीर की बानगी तो देखिए--

हाथ रखे हाथ पर, बैठे हो क्या बेखबर
चलने को है कारवाँ, कुछ तो किया चाहिए
क्या करूँ, दिल खूँ करूँ, शेर ही मौजूँ करूँ
चलती है जब तक जबाँ, कुछ तो किया चाहिए

यह 'कुछ तो किया चाहिए' बड़ा मानीखेज है। मीर की जिन्दगी, शायरी और उनके युग को समझने की कुंजी है। कुछ न कुछ करने का जज्बा ही मीर को मुसलसल बेचैन रखता है। यह बेचैनी और रचने की ललक ही उन्हें शायरी और साधारण जनता के बाह्य और आन्तरिक जीवन से जोड़ती है। यह जुड़ाव उन्हें सामाजिक ही नहीं राजनीतिक भी बनाता है। वह सामन्ती मूल्यों के पतन के सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक कारणों को समझने की दिशा में आगे बढ़ते हैं। वह जीवन के सच के साथ इतिहास के यथार्थ को भी अपनी कविता में बाँध लेते हैं। जीवन और इतिहास उनकी काव्यात्मक अनुभूतियों में घुलमिलकर एक हो गये हैं। मीर की शायरी उनकी आपबीती के साथ उनके युग का इतिहास भी है।

दिल्ली में आज भीख भी मिलती नहीं उन्हें
था कल तलक दिमाग, जिन्हें ताज-ओ-तख्त का

* * *

अय हुब्बे-ए-जाह[1] वालो, जो आज ताजवर है
कल उसका देखियो तुम, ने ताज है न सर है
(1. धन और प्रतिष्ठा का लोभ)

* * *

शाम से, कुछ बुझा सा रहता है
दिल हुआ है, चराग मुफ्लिस का

* * *

आह-ए-सहर[1] ने, सोजिश-ए-दिल[2] को मिटा दिया
इस बाद[3] ने हमें तो दिया-सा बुझा दिया
(1. प्रातःकाल का आर्तनाद 2. दिल की जलन 3. हवा)

मीर का युग मुगल संस्कृति के पराभव का युग है। इस काल में मुगलों की केन्द्रीय सत्ता तेजी से टूटकर बिखर रही थी। भारतीय सामन्तवाद मरणासन्न था। उसकी चमक-दमक और ताकत खोने लगी थी। भारतीय सामन्तवाद की मुख्य धुरी जमींदार, राजा और नवाब थे जो पूँजी और मण्डी की ताकत के सामने लाचार और बर्बाद होने लगे थे। समाज और रियाया से उनकी पकड़ छूटती जा रही थी। बावजूद सारी प्रतिकूलताओं के जमींदारों, राजाओं और नवाबों ने साहित्य, कला और संस्कृति को बचाये रखने में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी है। मीर ने पतनशील संस्कृति और जीवन का जैसा विशद और विश्वसनीय चित्रण किया है वह हिन्दुस्तानी साहित्य की

अनमोल थाती है। उन्होंने एक मिटते हुए संसार और संस्कृति को जिस दुःख, करुणा और कलात्मकता के साथ अपनी रचनाओं में पुनर्जीवित किया है वह ऐतिहासिक महत्त्व का है। अठारहवी शताब्दी का हिन्दुस्तान नैराश्य से भरा हुआ है। उम्मीद की कोई किरण नजर नहीं आती है। चारों ओर लूट-पाट, अफरा-तफरी और खून-खराबे का माहौल है।

खून कम कर अब, कि कुश्तों[1] के तो पुश्ते[2] लग गये
कत्ल करते करते तेरे तई[3] जुनूँ[4] हो जायेगा

(1. कत्ल किये हुए 2. ढेर 3. तुझे 4. पागलपन)

दिल और दिल्ली दोनों बेहाल हैं। आम आदमी परेशान और फटेहाल है जबकि देश और प्रदेश की बागडोर कमीने और जाहिलों के हाथों में है। मीर आम आदमी की नुमाइन्दगी करते हुए लिखते हैं कि--

रहते हैं दाग अक्सर, नान-ओ-नमक की खातिर
जीने का इस समय में, अब क्या मजा रहा है

जिन कमीने और नालायक सत्ताधारियों के कारण जनता बदहाल और दाने-दाने को मोहताज हुई है उन पर मीर का यह शेर आँखें खोल देने वाला है--

रही न पुख्तगी[1] आलम[2] में, दौर-ए-खामी[3] है
हजार हैफ[4] कमीनों का चर्ख[5] हामी[6] है

(1. पक्कापन, स्थायित्व 2. संसार 3. बुराई का जमाना 4. अफसोन 5. जमाना 6. समर्थक)

मीर की रचनाओं का एक बड़ा हिस्सा नैराश्य, दुःख और भयानक पीड़ा से भरा हुआ है। उनकी गजलें आँसू और खून से भरी हुई हैं, लेकिन उनकी उम्मीद का एक दिया बराबर जलाये रखते हैं। निराशा और आशा का ऐसा अद्‌भुत और चमत्कारिक संयोजन उनको खुदा-ए-सुखन बनाता है।

शायरी के खुदा मीर के कुछ बयानों को सुनिये और गुजरे हुए एक युग को साकार होता देखिए--

आलम सियाह खानः[1] है किसका, कि रोज-ओ-शब[2]
यह शोर है, कि देती नहीं कुछ सुनाई बात

(1. कालाघर 2. दिन-रात)

* * *

अय बू-ए-गुल[1], समझ के महकियो पवन के बीच
जख्मी पड़े हैं मुर्ग[2] हजारों, चमन के बीच

(1. फूल की सुगन्ध 2. पक्षी)

* * *

मौसम आया तो नख्ल-ए-दार[1] में मीर
सर-ए-मंसूर[2] ही का बार[3] आया

(1. फाँसी का वश्क्ष 2. मंसूर, एक शहीद 3. फल)

* * *

आहों के शोले जिस जा, उठते थे मीर शब को
वाँ जाके सुब्ह देखा, मुश्त-ए-गुबार[1] पाया

(1. मुट्‌ठी भर धूल)

* * *

खूब रू[1] अब नहीं हैं गन्दुम गूँ[2]
मीर हिन्दोस्ताँ में काल पड़ा

(1. खूबसूरत व्यक्ति 2. गेहुँआ रंग)

* * *

फितने फसाद[1] उठेंगे, घर घर में खून होंगे
गर शहर में खिरामाँ[2], वह खानः जंग[3] आया

(1. उपद्रव 2. चलता हुआ 3. गृहयुद्ध करने वाला)

खानः जंग तो आया और सब कुछ तबाह कर गया। मीर तकी मीर ने जंग की बर्बादियों और खून खराबे को अपनी आँखों से देखा था। जिन्दगी और मुल्क को आग में जलते और धुआँ-धुआँ होते देखा था। यह वे ही लिख सकते थे कि--

देख तो, दिल कि जाँ से उठता है
ये धुआँ-सा कहाँ से उठता है
गोर किस दिल जले की है, यह फलक
शोलः इक सुब्ह याँ से उठता है

जलते-धुआँते इतिहास और मरते और खाक होते इनसानों का यह बिम्ब तो देखिए, रोंगटे खड़े हो जाएँगे--

तेरी गली से सदा अय कुशिन्दः-ए-आलम[1]
हजारों आती हुई चारपाइयाँ देखीं

(1. दुनिया का कातिल)

सियासतदानों और सरमायादारों का चरित्र सदियों बाद भी नहीं बदला है। 21वीं सदी में भी हम राजनीतिज्ञों और पूँजीपतियों के नापाक गठजोड़ को देख रहे हैं। उनके कपड़े ही नहीं, हाथ भी खून से रंगे हुए हैं। "शेक्सपियर के प्रसिद्ध ड्रामे 'मेकबैथ' में जब अपने अपराधी अन्तःकरण की सताई हुई लेडी मेकबैथ ख्वाब में चलती है तो वह अपने हाथों को इस ढंग से मलती रहती है, जैसे उन्हें धोने की कोशिश कर रही हो, लेकिन बेगुनाह के खून के धब्बे किसी प्रकार नहीं छूटते--

किया है खूँ मिरा पामाल, यह सुर्खी न छूटेगी
अगर कातिल तू अपने हाथ सौ पानी से धोवेगा"[(6)]

आज भी कातिल अपने हाथों को मल रहा है और खून के धब्बों और बू को मिटाने की कोशिश कर रहा है लेकिन संसार के सारे इत्र और पानी भी जैसे कम पड़ गये हैं। मीर की विशेषता है कि उन्होंने अपने दुःख को संसार के दुःख से जोड़ दिया है। यह समन्वित दुःख उन्हें निर्भीक और शक्तिशाली बना देता है। वह बादशाहों के फूहड़ जलसों और प्रदर्शनों के मुकाबले हजारों-हजार

सताये हुए गरीबों की फौज खड़ी कर देते हैं। इस फौज के हथियार तो देखिए, आह, दाह, दर्द, आँसू और आर्तनाद। इन हथियारों के साथ उतरी फौज को भला आज तक कौन हरा सका है? मृत्यु तो इनके लिए विराम है, ये थकेंगे, रुकेंगे और दम लेकर आगे की ओर बढ़ेंगे, विजय के आखिरी पड़ाव तक।

हम भी फिरते हैं, यक हशम[1] लेकर
दस्तः-ए-दाग[2]-ओ-फौज-ए-गम[3] लेकर
दस्तकश[4] नालः[5], पेशरौ[6] गिरियः[7]
आह चलती है याँ, अलम[8] लेकर
मर्ग[9], इक मान्दगी[10] का वक्फः[11] है
यानी आगे चलेंगे, दम लेकर

(1. सिपाही और प्यादे 2. दागों की टुकड़ी 3. दुखों की सेना 4. हाथ खींचनेवाला 5. आर्तनाद 6. आगे-आगे चलनेवाला 7. आँसू, रोना 8. झण्डा 9. मृत्यु 10. थकन 11. विराम)

मीर मृत्युंजय कवि हैं। उनकी कविता काल के कागज पर लिखी गई अमर इबारत है। संगीत, सम्मोहन और आशुकथन उनकी कविता को अप्रतिम ऊँचाइयों तक ले जाते हैं। उनके शेर मंत्रेच्चार की तरह सम्मोहित कर लेते हैं। संगीत तो जैसे इन मंत्रों को नयी अर्थ दीप्ति से भर देता है। मेंहदी हसन साहब जब मीर की गजल-- "देख तो दिल कि जाँ से उठता है/ये धुआँ-सा कहाँ से उठता है" गाते हैं तो अल्फाजों के कई मायने खुलने लगते हैं। 'धुआँ' सिर्फ दिल और जाँ से ही नहीं वरन् देश-जहान से भी उठता हुआ दिखाई देता है। मीर आशुकथन के भी बड़े कवि हैं। लखनऊ की एक महफिल में उन्हें हँसी का पात्र बनाते हुए जब उनका परिचय पूछा गया तो उनका जवाब था कि--

क्या बूद-ओ-बाश[1] पूछो हो पूरब के साकिनो[2]
हमको गरीब जान के हँसहँस पुकार के
दिल्ली जो एक शहर था आलम[3] में इन्तिखाब[4]
रहते थे मुन्तखब[5] ही जहाँ रोजगार[6] के
उसको फलक[7] ने लूट के वीरान कर दिया
हम रहनेवाले हैं उसी उजड़े दयार[8] के

(1. रहन-सहन 2. रहनेवालों 3. संसार 4. चुना हुआ 5. चुने हुए लोग 6. समय, संसार 7. आकाश, भाग्य 8. नगर)

मीर का यह अद्भुत आत्म परिचय, उनके युग का भी परिचय है। उनकी शायरी अपने समय और समाज का सबसे अनमोल दस्तावेज है। बस दूर तक देखने और समझने वाली सजग आँखें चाहिए। उनका हुनर और कमाल इस शेर में देखिए, वह आँखें खोलने को कहते हैं, मूँदने को नहीं। वह सक्रियता चाहते हैं, निष्क्रियता नहीं।

चश्म-ए-तमाशा[1] वा होवे, तो देखा भाली गनीमत[2] है
मत मूँदे आँखों को गाफिल[3], देर तलक फिर सोवेगा

(1. दुनिया का तमाशा देखने वाली आँख 2. सन्तोष की बात 3. मूर्ख, असावधान)

मीर का हँसना, रोना, आहें भरना, फरियाद करना, इज्जत और हक के लिए आवाज उठाना केवल अपने लिए नहीं है बल्कि पूरे मानव समाज के लिए है। फिराक गोरखपुरी साहब ने बिल्कुल ठीक लिखा है कि, "मीर के उत्तम शेर जादू का असर रखते हैं। ऐसी रचनाओं में उनका स्वर जीवन का स्वर बन जाता है। इन रचनाओं में जैसी घुलावट है, जैसी चुमकार है, जो मानवता है, जो विनम्रता है, जो स्वाभाविकता और जो हृदय विदीर्ण करने वाली मृदुलता और तीव्रता का संगम है उसका उदाहरण कहीं और नहीं मिलता। 'मीर' की रचनाएँ 'सूर' और 'रसखान' की याद दिलाती हैं। हम भारतीय संस्कृति का विश्वविद्यालय 'मीर' की इन रचनाओं को कह सकते हैं। ऐसी रचनाओं का हर शेर उर्दू शायरी की निधि का बहुमूल्य रत्न है।"[7]

उर्दू शायरी को बहुमूल्य रत्नों से मालमाल कर सन् 1810 ईस्वी में मीर ने दुनिया को अलविदा कह दिया।

मरते हैं हम तो, आदम-ए-खाकी[1] की शान पर
अल्लाह रे दिमाग, कि है आसमान पर

(1. मिट्टी का पुतला, इनसान)

टिप्पणी

1. गुफ्तगू, फिराक गोरखपुरी से बातचीत, वर्ताकार : सुमत प्रकाश 'शौक', अनुवादक : डॉ. परमानन्द पाँचाल, प्रथम संस्करण, 1996, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, पृष्ठ 36।
2. उर्दू साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, प्रोफेसर सैयद एहतेशाम हुसैन, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रथम पेपरबैक संस्करण 2011, पृष्ठ 58।
3. दीवान-ए-मीर, अली सरदार जाफरी, सस्करण 2009, राजकमल पेपरबैक्स, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, भूमिका, पृष्ठ 12, 13।
4. उपर्युक्त, पृष्ठ 412, 413।
5. उर्दू साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, प्रोफेसर सैयद एहतेशाम हुसैन, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रथम पेपरबैक संस्करण 2011, पृष्ठ 57।
6. दीवान-ए-मीर, अली सरदार जाफरी, सस्करण 2009, राजकमल पेपरबैक्स, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, शायरी, पृष्ठ 430, 431।
7. उर्दू भाषा और साहित्य, रघुपति सहाय 'फिराक गोरखपुरी', उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, चतुर्थ संस्करण 2008, पृष्ठ 29, 30।

क्या हमारे समाज में भाईचारे और एकजुटता की भावनाओं के लिए कोई जगह नहीं?

-- अरुंधति राय

(विश्व-प्रसिद्ध लेखिका अरुंधति राय ने दलित कैमरा पोर्टल को एक लम्बा साक्षात्कार दिया है। इसमें उन्होंने अमरीका और यूरोप में चल रहे नस्लवाद विरोधी आन्दोलन से लेकर भारत में कोरोना की स्थित तक पर अपने विचार जाहिर किये हैं। उनका कहना है कि अमरीका और यूरोप के मुकाबले भारत में असमानता की जड़ें बेहद गहरी हैं। लेकिन इसके खिलाफ मुकम्मल लड़ाई की अभी दूर-दूर तक कोई सम्भावना नहीं दिख रही है। इसके साथ ही इस साक्षात्कार में उन्होंने ऑनलाइन शिक्षा और डिजिटल विस्तार से जुड़े सवालों का भी जवाब दिया है। अरुंधति ने मौजूदा निजाम की फासीवादी प्रवृत्तियों की तरफ इशारा करते हुए कहा कि इसके रहते देश में किसी भी तरह के सकारात्मक बदलाव की उम्मीद नहीं की जा सकती है। मूल रूप से अंग्रेजी में प्रकाशित इस साक्षात्कार का हिन्दी अनुवाद सामाजिक कार्यकर्ता कुमार मुकेश ने किया है।)

हम अमरीका में चल रहे आन्दोलन का समर्थन किस तरह करें और भारत में विरोध कर रहे लोगों के साथ कैसे एकजुटता जाहिर करें?

मेरे ख्याल से आपका आशय श्वेत अमरीकी पुलिस द्वारा अफ्रीकी अमरीकियों की हत्याओं की लम्बी शृंखला में नवीनतम जॉर्ज फ्लॉयड की निर्मम हत्या के बाद बड़े पैमाने पर भड़के विरोध प्रदर्शनों से है। मेरे विचार से इस आन्दोलन का समर्थन करने का सबसे अच्छा तरीका सबसे पहले यह समझना है कि इसका मूल कहाँ है। गुलामी का इतिहास, जातिवाद, नागरिक-अधिकार आन्दोलन इन सबकी सफलताओं और असफलताओं की जड़ें कहाँ हैं? अत्यन्त सूक्ष्म तरीके से जाँच करने की आवश्यकता है कि उत्तरी अमरीका में अफ्रीकी अमरीकियों को "लोकतंत्र" के ढाँचे के भीतर आखिर इतनी क्रूरता, असंगतता और असंतोष का सामना क्यों करना पड़ता है? इससे पूर्व यह भी समझना होगा कि अमरीका में भारतीय समुदाय के अधिकांश लोगों की इसमें क्या भूमिका है? पारम्परिक रूप से भारतीय समुदाय किसके साथ जुड़ा रहा है? इन प्रश्नों के उत्तर हमें अपने समाज के बारे में बहुत कुछ बताएँगे। विभिन्न संस्कृतियों और समुदायों के सामूहिक रोष और प्रदर्शनों का समर्थन हम तभी कर सकते हैं, जब हम ईमानदारी से अपने स्वयं के मूल्यों और कार्यों का आकलन करें। हम खुद एक ऐसे बीमार समाज में रहते हैं, जिसमें भाईचारे और एकजुटता की भावनाओं के लिए कोई जगह नहीं है।

क्या अमरीका के "कू क्लक्स क्लान" और भारत के "गौ-रक्षक हिन्दुओं" की विचारधारा और कार्य-प्रणाली में समानताएँ हैं?

निस्सन्देह इनमें समानताएँ हैं। अन्तर इतना है कि "कू क्लक्स क्लान" जब हत्याएँ करता था तो उसकी शैली कुछ अलग थी। आरएसएस की तरह, एक जमाने में, क्लान अमरीका के सबसे प्रभावशाली संगठनों में से एक हुआ करता था। इसके सदस्य पुलिस और न्यायपालिका सहित सभी सार्वजनिक संस्थाओं में प्रवेश कर गये थे। क्लान द्वारा की गयी हत्याएँ सिर्फ हत्याएँ नहीं थीं, वे एक तरह के अनुष्ठानिक प्रदर्शन थे जो आतंक पैदा करने और सबक सिखाने के इरादे से किये जाते थे। 'कू क्लक्स क्लान' द्वारा काले लोगों की लिंचिंग उतनी ही सत्य है जितनी हिन्दू रक्षक समूहों द्वारा दलितों और मुस्लिमों की लिंचिंग।

सुरेखा भोतमाँगे और उनके परिवार को याद कीजिये? बेशक सुरेखा भोतमाँगे और जॉर्ज फ्लॉयड की पृष्ठभूमि और संघर्ष बहुत अलग हैं। सुरेखा और उसके परिवार को भी उसके ही गाँव के लोगों ने मौत के घाट उतार दिया। पुलिसिये डेरेक चाउविन ने बहुत सोचते-समझते हुए जॉर्ज फ्लॉयड की हत्या कर दी। उसका एक हाथ जेब में और एक घुटना फ्लॉयड की गर्दन पर था। उसके पास खुद की मदद के लिए लोग थे। उसके कृत्य पर ध्यान रखने के लिए उसके साथ अन्य पुलिस वाले थे। आसपास दर्शक भी थे। वह यह भी जानता था कि उसे फिल्माया जा रहा है। इन सब के बीच उसने इस कत्ल को अंजाम दिया। उसका मानना था कि इसके बावजूद वह सुरक्षित और दण्ड मुक्त है। फिलहाल श्वेत

वर्चस्ववादी और हिन्दू वर्चस्ववादी दोनों से ही सहानुभूति रखने वाले, उच्च पदों पर आसीन लोग मौजूद है (विनम्रता से कहें तो)। इसलिए दोनों कामयाबी से आगे बढ़ रहे हैं।

एक ओर हम भारतीयों को भी सोशल मीडिया आन्दोलन ब्लैक-लाइव्स-मैटर ट्रेण्ड करते हुए देखते हैं लेकिन इसी देश में हमें लगातार काले लोगों पर हमले देखने को मिलते हैं? भारतीय काले लोगों को किस रूप में देखते हैं या उनके बारे में हम भारतीयों की परम्परागत राय क्या है?

गोरी त्वचा के प्रति भारतीय जुनून को देखें। हमारे बारे में यह सबसे ज्यादा बीमार करने वाली चीजों में से एक है। यदि आप बॉलीवुड फिल्में देखते हैं तो आपको लगेगा जैसे भारत गोरे लोगों का देश हो। काले लोगों के प्रति भारतीयों का नस्लवाद गोरों के नस्लवाद से कहीं ज्यादा बदतर है। ये अविश्वसनीय है। मैंने अपने काले मित्रों के साथ ऐसा घटित होते हुए सड़कों पर देखा है। और कभी-कभी यह प्रवृति ऐसे लोगों में भी दिखाई देती है जिनकी त्वचा का रंग वास्तव में कालों से कुछ ज्यादा अलग नहीं है! शायद ही मैंने कभी इतना क्रोधित और लज्जित महसूस किया हो। और यह नस्लवाद अचानक हमलों के रूप में भी प्रकट होता रहा है।

2014 में, आम आदमी पार्टी द्वारा दिल्ली चुनाव में भारी जनादेश हासिल करने के तुरन्त बाद, कानून मंत्री सोमनाथ भारती ने आधी रात को लोगों के एक समूह का नेतृत्व करते हुए छापे मारे। दिल्ली के खिड़की क्षेत्र में इस समूह ने "अनैतिक और अवैध गतिविधियों" में संलिप्त कांगो और युगाण्डा की महिलाओं पर शारीरिक हमला किया और उन्हें अपमानित किया।

इसी तरह 2017 में अफ्रीकी छात्रों पर ड्रग बेचने के आरोप लगाते हुए ग्रेटर नोएडा में भीड़ द्वारा हमला कर उन्हें पीटा गया। लेकिन भारत में मौजूद नस्लवाद विशाल और विविध प्रकार का है। नोएडा हमले के बाद संसद सदस्य और भाजपा नेता तरुण विजय द्वारा नस्लवाद के बचाव में दिये बयान को कौन भूल सकता है-- "अगर हम नस्लवादी होते, तो पूरे दक्षिण भारत तमिलों को आप जानते हैं, आप केरल, कर्नाटक और आंध्र को जानते हैं हम फिर उनके साथ क्यों रहते हैं? वे हमारे साथ क्यों रहते हैं?"

वह हमें काले दक्षिण भारतीय लोगों के बारे में बता रहा था। मैं उससे इसके कारणों के बारे में जानना चाहती हूँ।

जब अफ्रीकी-अमरीकी सोशल मीडिया आन्दोलन ब्लैक-लाइव्स-मैटर, एशियाई आन्दोलन एशियन-लाइव्स-मैटर और गोरे आन्दोलन ऑल-लाइव्स-मैटर के पक्ष में तर्क देते हैं तो....

यह व्यर्थ तर्कों का सहारा लेकर असल मुद्दे को खत्म करने का धूर्त तरीका है। एशियाई अमरीकियों अथवा श्वेतों की हत्यायें नहीं हो रही हैं या उन पर उस तरह के जुल्म नहीं हो रहे हैं जिनका सामना अक्सर अमरीका में अफ्रीकी अमरीकी लोग करते हैं। जब से अमरीका में गुलाम-प्रथा समाप्त हुई है, अफ्रीकी अमरीकियों को अन्य तमाम तरीकों-- हिंसक तरीकों, जो एक लोकतंत्र के सामाजिक अनुबन्ध और कानूनी ढाँचे में फिट होते हैं, के द्वारा गुलाम बनाये रखने के लिए ठोस प्रयास किया जाता रहा है। अमरीकी साम्राज्यवाद और उसके युद्धों की अन्तर्राष्ट्रीय कहानियाँ वियतनाम, जापान, इराक, अफगानिस्तान में नरसंहार की कहानियाँ... मुझे नहीं लगता कि सोशल मीडिया आन्दोलन एशियन-लाइव्स-मैटर और ऑल-लाइव्स-मैटर में इन कहानियों का कोई भी सन्दर्भ है।

जब दलित सोशल मीडिया आन्दोलन दलित-लाइव्स-मैटर चला रहे हैं तो क्या यह सदियों से चल रहे काले लोगों के संघर्ष को कमजोर नहीं करता? क्या दलित-लाइव्स-मैटर आन्दोलन नस्लवाद से भी ऊपर है?

जातिवाद और नस्लवाद का इतिहास अलग-अलग होने के बावजूद ये दोनों ज्यादा अलग नहीं हैं सिवाय इसके कि जातिवाद किसी दैवीय आदेश का दावा करता है। इसलिए मुझे यह लगता है कि यह कहना थोड़ा कठोर होगा कि सोशल मीडिया आन्दोलन दलित-लाइव्स-मैटर सदियों से चल रहे काले लोगों के संघर्ष को कमजोर करता है। मुझे लगता है कि यह 'ब्लैक लाइव्स मैटर' से एक साझा उद्देश्य स्थापित करने, एकजुटता बनाने और उससे एक रोशनी पाने की कोशिश है।

जो आन्दोलन अमरीका में हो रहा है वह किसी भी अन्य आन्दोलन की तुलना में ज्यादा शक्तिशाली और दृश्यमान है। भारत का जातिवाद लम्बे समय से अन्तरराष्ट्रीय जाँच के रडार के दायरे से बाहर चला गया है। और इसे इस स्थिति तक पहुँचाने के लिए कई प्रसिद्ध, सम्मानित बुद्धिजीवियों और शिक्षाविदों ने भी मदद की है।

कोई भी जातिवाद से ऊपर नहीं है। अलग-अलग जगहों पर इसके अलग-अलग रूप हैं। उदाहरण के लिए दक्षिण अफ्रीका में ब्लैक साउथ अफ्रीकी, नाइजीरियाई और अन्य अफ्रीकी देशों के अफ्रीकियों से घृणा करते हैं। और भारत के बारे में तो हम जानते ही हैं कि जातिगत उत्पीड़न और ब्राह्मणवाद, हर उस जाति में प्रचलित है जिसमें अपने से नीचे की जाति पर अत्याचार किया जाता है। और यह प्रवृत्ति समाज के निचले से निचले पायदान तक जाती है, यहाँ तक कि "दलित" नाम की राजनीतिक श्रेणी में भी। आपने भी अपने संघर्षों में इसे अनुभव किया होगा। आप किसी भी चीज को लम्बे समय तक घूरते रहें तो वह चीज अपने चारों ओर के शब्दाडम्बर की तुलना में और अधिक जटिल हो जाती है। लेकिन शब्दाडम्बर का भी अपना महत्त्व है। यह लोगों को अपने विचारों को व्यवस्थित करने के लिए एक ढाँचा प्रदान करता है।

भारत के जनमानस, समाचार और मनोरंजन मीडिया में काले लोगों को आज भी नशीली दवाओं के सौदागर, बर्बर और

नरभक्षी के रूप में क्यों चित्रित किया जाता है?

क्योंकि हम एक नस्लवादी संस्कृति हैं। पिछले साल मैंने एक मलयालम फिल्म अब्राहमिन्दे संथाथिकल (द सन्स ऑफ अब्राहम) देखी। इस फिल्म के सभी शातिर, बेवकूफ-अपराधी खलनायक, सभी ब्लैक अफ्रीकन थे-- और जाहिर तौर पर मलयाली सुपर हीरो अन्त में उन सबका सर्वनाश कर देता है। केरल में अफ्रीकियों का कोई समुदाय नहीं रहता फिर भी फिल्म निर्माता ने नस्लवाद को उखाड़ फेंकने के लिए एक काल्पनिक कहानी आयात कर ली! यह कोई राज्य द्वारा अत्याचार नहीं है। यह हमारा समाज है। ये सब यहीं के लोग हैं। ये वही दक्षिण भारतीय कलाकार, फिल्म निर्माता, अभिनेता और लेखक हैं जिनकी काली चमड़ी के लिए उत्तर भारतीयों द्वारा हमेशा उनका मजाक उड़ाया जाता है। ठीक इन्हीं कारणों से दक्षिण भारतीय अफ्रीकियों को अपमानित करते हैं। यह एक ऐसे बोरवेल में गिरने जैसा है जिसका कोई तल नहीं है।

अमरीका में विरोध प्रदर्शनों के दौरान गाँधी की मूर्ति को तोड़ दिया गया, इसका क्या कारण हो सकता है?

यह जान पाना बेहद कठिन है। समाचार रिपोर्टों में कहा गया है कि मूर्ति को तोड़कर उस पर ग्रेफिटी का छिड़काव कर दिया गया। लेकिन तस्वीरों में मूर्ति को लिपटा हुआ दिखाया गया है। इसलिए किसी को पता नहीं है कि उस पर क्या ग्रेफिटी चित्रित की गयी थी।

क्या यह कृत्य, उन लोगों द्वारा किया गया जो गाँधी के दक्षिण अफ्रीका में प्रवास के दौरान काले अफ्रीकियों के खिलाफ गाँधी की नस्लवादी टिप्पणियों और भारत में जाति-व्यवस्था पर उनकी स्थिति से अवगत हैं? या यह उन लोगों का काम था जो भारत के प्रधानमंत्री और ट्रम्प के सम्मान में हाउडी मोदी और नमस्ते ट्रम्प जैसे विशाल प्रदर्शनों के प्रति अपनी घृणा व्यक्त करना चाहते थे।

मुझे वास्तव में इसके बारे में जानकारी नहीं है। परन्तु यह भी सच है कि कई प्रदर्शनकारियों ने गाँधी की तस्वीरों के साथ, उन्हें अपनी प्रेरणा बताते हुए, एक शिक्षक और संरक्षक के रूप में और अहिंसक सविनय अवज्ञा जैसी उनकी रणनीति के पक्ष में ट्वीट किये। इसलिए गाँधी अपने कई अवतारों में उन सड़कों पर मौजूद रहे हैं।

जिस मूर्ति का जिक्र हम कर रहे हैं उसे अटल बिहारी वाजपेयी सरकार ने प्रायोजित किया था। अन्य कई अफ्रीकी देशों में भी उनकी प्रतिमाएँ प्रायोजित की जाती रही हैं। भारत सरकार गाँधी की प्रतिमाओं का निर्माण क्यों प्रायोजित करती है? यही भारत सरकार विदेशों में गाँधी की मूर्तियों को बढ़ावा देती है जबकि भारत में ही इसकी सबसे बड़ी रणभूमि है और साथ ही आज का भारतीय समाज और ज्यादा असहिष्णु हो गया है। इसे कैसे समझा जाये?

अच्छे के लिए या फिर बुरे के लिए, गाँधी भारत का सबसे महत्त्वपूर्ण निर्यात हैं। गाँधी का अहिंसा का सन्देश और भारत सरकार द्वारा देश के लगभग हर हिस्से में चरम हिंसा और सैन्यवाद की सुलभ क्षमता; यह दोनों चीजें अत्यन्त सुगमता से साथ-साथ चलती हैं। उनके लिए गाँधी एक उपकरण हैं, एक उपयोगिता, धुम्रावरण, शायद आँसू गैस। यहाँ तक कि सामाजिक और बौद्धिक रूप से स्वयं को गाँधीवादी कहने में उन लोगों को भी कोई विरोधाभास महसूस नहीं होता जो ताकतवर जातियों से सम्बन्ध रखते हैं, जाति-व्यवस्था को स्वीकार करते हैं और उसका पालन करते हैं। जिस व्यवस्था के बारे में हम जानते हैं कि वह केवल उसी वातावरण में जिन्दा रह सकती है जिसमें इस व्यवस्था की अवहेलना करने वालों के खिलाफ हिंसा की धमकियाँ और शारीरिक हिंसा स्थायी रूप से मौजूद रहती हैं। इस पाखण्ड की ओर किसी का ध्यान नहीं जाता।

अनेक भारतीय ब्रिस्टन में गुलामों के व्यापार के मालिक एडवर्ड कॉलस्टन की प्रतिमा को गिराते हुए "ब्लैक लाइक मेटेर" आन्दोलन की तस्वीरों को साझा कर रहे हैं और उत्सव मना रहे हैं। लेकिन भारत में ही राजस्थान उच्च न्यायालय के ठीक सामने मनु की प्रतिमा स्थापित है; इसके अतिरिक्त "केवल ब्राह्मण" घरों जैसे कई और प्रतीक मौजूद है जो जातिवाद को प्रोत्साहित करते हैं। फिर भी हम उन्हें गिराना तो दूर उन्हें खारिज तक करने में भी दिलचस्पी नहीं दिखाते इस पर आपकी क्या टिप्पणी है?

हम एक जातिवादी, हिन्दू राष्ट्रवादी देश में रहते हैं। हम उस दिन से अभी बहुत दूर हैं जब हमारे यहाँ ऐसी मूर्तियों को हटाया या गिराया जाएगा। हम तो उस अवस्था में हैं जब ऐसी मूर्तियों को स्थापित किया जा रहा है और उनका उत्सव मनाया जा रहा है। दुख की बात तो यह है कि कभी दलित पैंथर्स जैसे क्रान्तिकारी आन्दोलनों का हिस्सा रहे, लोगों ने भी इन नये शासकों से हाथ मिला लिया है। आज जैसा विद्रोह हम अमरीका में देख रहे हैं, वह दरअसल अरसे के संघर्ष और संगठन के साथ-साथ कविता, कला, संगीत, साहित्य के उन आयोजनों और स्मृतियों का परिणाम है जिनके माध्यम से अफ्रीकी अमरीकी खुद की कहानी सुनते-सुनाते रहे हैं। नस्लीय विभाजन की जीवंत उपस्थिति को लेकर अमरीकियों की नयी पीढ़ी में बेहद शर्म और रोष है। एकजुटता का ऐसा प्रदर्शन एक आश्चर्यजनक घटना है।

क्या आपको लगता है कि कोविड-19 से निपटने के लिए लॉकडाउन और सरकार द्वारा उठाये गये अन्य असाधारण कदम ठीक थे? या यह जल्दबाजी में की गयी कार्यवाई थी जिसके कारण अनेक लोगों का जीवन अस्त-व्यस्त हो गया?

और अब अचानक "अनलॉक" पर आप के क्या विचार हैं?

भारत में कोविड-19 का पहला मामला 30 जनवरी को दर्ज किया गया। डब्ल्यूएचओ द्वारा 11 मार्च को इसे महामारी घोषित कर देने के बाद भी भारतीय स्वास्थ्य मंत्रालय ने कहा कि अभी स्वास्थ्य-आपातकाल जैसी स्थिति नहीं है। जब सरकार द्वारा अन्तरराष्ट्रीय हवाईअड्डों को बन्द और अन्तरराष्ट्रीय यात्रियों को क्वारन्टीन कर देना चाहिए था, उन्होंने नहीं किया। शायद इसकी वजह ट्रम्प की प्रस्तावित यात्रा थी। फरवरी के अन्तिम सप्ताह में ट्रम्प भारत पहुँचे। नमस्ते ट्रम्प जैसे आयोजन में भाग लेने के लिए हजारों लोगों ने अमरीका से मुंबई और अहमदाबाद के लिए उड़ान भरी और सैकड़ों-हजारों लोगों ने इसमें भाग लिया। इन दो शहरों पर कोरोना वायरस ने भयानक हमला कर दिया। क्या यह मात्र एक संयोग है?

तबलीगी जमात को कलंकित करने और नमस्ते ट्रम्प के महिमामण्डन को कैसे जायज ठहराया जा सकता है? शीर्ष से शुरू करने और हवाई-यात्राएँ करने वाले वर्ग को क्वारन्टीन करने के बजाय, सरकार ने इन्तजार करना जारी रखा। और इसकी कीमत चुकाई मजदूर तबके ने। जब मात्र चार घण्टे के नोटिस पर लॉकडाउन की घोषणा की गयी तो देश में संक्रमण के 545 मामले थे और तब तक 10 मौतें हुई थीं। इस कट-एण्ड-पेस्ट लॉकडाउन को इटली और स्पेन से आयात किया गया था, जिन्होंने इसे "सोशल डिस्टेंसिंग" के लिए लागू किया था। बिना किसी ठोस योजना के थोप दिया जाने वाला लॉकडाउन मानवता के खिलाफ अपराध से कम नहीं है।

भारत में केवल अमीर लोग ही शारीरिक दूरी बना सकने में समर्थ हैं। गरीब तो शारीरिक रूप से हर जगह अटा पड़ा है; झुग्गियों में, छोटे-छोटे घरों में, अनधिकृत कॉलोनियों में। ऑपरेशन वन्दे-भारत द्वारा विदेशों में रहने वाले भारतीयों को तो वहाँ से निकाल लाया गया, पर लाखों मेहनतकश मजदूर बिना किसी आश्रय, भोजन या पैसे के, जिन शहरों में थे वहीं फँस कर रह गये। परिवहन का कोई साधन उपलब्ध नहीं था तो वे सब हजारों किलोमीटर पैदल चलकर अपने गाँवों की ओर लौटने लगे। सैकड़ों-हजारों लोगों को जबरन क्वारन्टीन शिविरों में रख दिया गया और फिर कुछ समय बाद उन्हें छोड़ने की अनुमति जारी कर दी गयी। बसों और ट्रेनों में ठूँस कर उन्हें वापस भेजा जाने लगा। वायरस भी उनके साथ सफर में था।

इस सारे प्रकरण में नजर यही आया कि प्रधानमंत्री, जो चुनाव जीतने के मामले में तो बेहद चतुर हैं पर उन्हें उस देश के बारे में कोई जानकारी नहीं है, जिसके वह संचालक हैं। कोई जानकारी तक नहीं, पर उनके अभिमान का कोई मुकाबला नहीं और विशेषज्ञों की राय लेने का तो किंचित प्रयास ही नहीं। उन्होंने चार घण्टे के नोटिस पर 138 करोड़ लोगों को अपने घरों में बन्द कर दिया। क्यों? कैसे? क्योंकि वह ही यह कर सकते थे। भाजपा में राजनेता, नौकरशाह, व्यापारी-वर्ग, उद्योगपति और यहाँ तक कि उनके अपने सहयोगी भी मुँह खोलने के परिणामों से भयभीत रहते हैं। उनके दिमागों में या तो डर भरा है या वे प्रधानमंत्री को खुश रखने या उनकी कृपा प्राप्त करने की जुगत भिड़ाने में व्यस्त रहते हैं। हमीं ने उन्हें दो तरफा हथौड़ा चलाने और देश को नष्ट करने का जनादेश दिया है।

लॉकडाउन के दौरान संक्रमण के केसों में तेजी से वृद्धि होती रही। अब संक्रमण का ग्राफ किसी खड़ी चट्टान की तरह हो गया है। इस समय देश में करीब पौने तीन लाख से अधिक संक्रमण के मामले हैं, अर्थव्यवस्था पूरी तरह से ध्वस्त हो चुकी है और अब सरकार ने लॉकडाउन खत्म कर दिया है। सौभाग्य से, रोगियों का एक बड़ा हिस्सा ऐसा है जिनमें बीमारी के गम्भीर लक्षण नहीं हैं। अगर हम संख्याओं पर भरोसा कर सकते हैं तो मृतकों की संख्या अमरीका और यूरोप की तुलना में बहुत कम है। लेकिन लाखों लोगों की रोजी-रोटी छिन चुकी है। आबादी का एक बड़ा हिस्सा भुखमरी के कगार पर है। जिन गाँवों में लोग लौट कर गये हैं वहाँ क्या हो रहा है? वहाँ जातिवाद, सामन्तवाद, लिंगभेद जैसे जिन्न पहले से ही मौजूद हैं और ऐसे भय और निराशा के क्षणों में आखिर ये लोग कैसे गुजर-बसर करेंगे?

लेकिन मोदी अब भी राफेल फाइटर जेट खरीदना और वास्तुशिल्प की विरासत छोड़ने और केन्द्रीय दिल्ली को नयी शक्लो-सूरत देने के इरादे से बीस हजार करोड़ रुपये खर्च करना चाहते हैं। इस बीच, वह आपदा-प्रबन्धन के काम को उन राज्य सरकारों के लिए छोड़ देंगे जिनसे उन्होंने लॉकडाउन घोषित करने से पहले कभी भी कोई सलाह नहीं ली थी; लेकिन अब वही राज्य-सरकारें किसी भी किस्म की अफरा-तफरी के लिए दोषी होंगी।

मोदी और उनका गोदी-मीडिया इस दोहरी विपदा को उपलब्धि के तौर पर बेचेगा। बिहार में 72,000 एलईडी स्क्रीन के साथ आभासी चुनाव अभियान शुरू किया ही जा चुका है। लोग भूखे हैं पर उनके पास इस काम के लिए पैसे हैं। एक बार फिर उनकी पटकथा साम्प्रदायिकता की ओर लौट रही है। जामिया मिल्लिया इस्लामिया और जेएनयू के छात्रों पर उन्ही के विश्वविद्यालयों में पुलिस और हिन्दुत्ववादी गुण्डों द्वारा बेरहमी से हमला, जो मुख्य तौर पर मुस्लिमों पर लक्षित था, किया जा रहा था। उन्हीं छात्रों को पूर्वोत्तर दिल्ली में हिंसा के साजिशकर्ता के रूप में गिरफ्तार किया जा रहा है! यह भीमा-कोरेगाँव का दिल्ली संस्करण है। इन दो घटनाओं के बीच भारत के कुछ सबसे अच्छे वकील, कार्यकर्ता, शिक्षक और बुद्धिजीवी निराधार आरोप लगाकर जेलों में बन्द कर दिये गये हैं। किसी ने कहा कि मोदी गंजे को भी कंघी बेच सकते

हैं। अगर हम इस कंघी को खरीदते हैं तो हम इसी लायक हैं। हम मूर्खों की भाँति अपने गंजे सिरों पर कंघी फेरते रह सकते हैं।

सरकार ने "तीव्र आर्थिक विकास और नागरिक सशक्तिकरण" के लिए "डिजिटल तकनीकों का दोहन" करने के लिए डिजिटल इंडिया परियोजना शुरू की है। आरोग्यसेतु एप और माय-गोव-कोरोना-हब को इस परियोजना के हिस्से के रूप में पेश किया गया है। आपकी राय में, डिजिटल तकनीकों का दोहन करने से भारत सरकार का क्या अभिप्राय है? यह किस भारतीय नागरिक को, किन तरीकों से सशक्त करने के लिए आरम्भ की गयी है? और क्या नागरिकों की बहुसंख्या इस परियोजना के दायरे से बाहर नहीं है?

भारत में 2022 तक स्मार्टफोन उपयोगकर्ताओं की संख्या 44 करोड़ हो जाने का अनुमान है। यह संख्या उस समय की अनुमानित कुल आबादी के एक तिहाई से भी कम है। और आज बच्चों तक से ऑनलाइन पढ़ाई के लिए स्मार्टफोन रखने की उम्मीद की जा रही है। डिजिटल इंडिया की महत्त्वाकांक्षी योजनाओं में बहुसंख्यक आबादी शामिल ही नहीं है। जिन ऐप्स का आपने उल्लेख किया है उन्हें अधकचरा और अपूर्ण होने के बावजूद पेश कर दिया गया है। बिल गेट्स की तरह के दृष्टिकोण, तकनीक या आर्टिफिशियल इण्टेलिजेंस जैसे विचार, जिनके अनुसार इनसे स्वास्थ्य, शिक्षा और गरीबी जैसी समस्याओं का समाधान हो जायेगा, बेहद खतरनाक साबित होंगे। हमें राजनीतिक समाधान की आवश्यकता है। अन्याय, भूख, नव-नस्लवाद, नव-जातिवाद, इस्लामोफोबिया और पारिस्थितिकी-विनाश जैसी चीजें नव-उदारवादी पूँजीवादी परियोजना का हिस्सा हैं। ऐप्स और खुद से मान ली गयी डिजिटल दक्षता, समस्या को न तो हल कर सकते हैं और न ही कर पायेंगे। ये उपाय हमें निजीकृत पूँजीवादी और नागरिकों पर निगरानी रखने वाली सत्ता के साथ नत्थी करने के लिए हैं।

हाल ही में, एक दलित छात्रा देविका ने आत्महत्या कर ली क्योंकि उसके पास ऑनलाइन शिक्षा तक पहुँचने के साधन नहीं थे। केरल सरकार द्वारा इस प्रणाली को नियमित करने की कोशिश की जा रही थी। ऐतिहासिक रूप से, प्रौद्योगिकी को समाज को लोकतांत्रिक बनाने का एक साधन माना जाता है। देविका और ऑनलाइन शिक्षा इत्यादि जैसे मामलों में हमने देखा है कि भारत में, प्रौद्योगिकी लोगों को हाशिए पर अथवा उससे बाहर धकेलने का माध्यम बन गयी है। वर्तमान विशिष्ट सन्दर्भ में इस विरोधाभास से कैसे निपटा जा सकता है?

मुझे लगता है कि मैं इस प्रश्न का उत्तर आपके पूर्व-प्रश्न में दे चुकी हूँ। किसी विशेषाधिकार रहित पृष्ठभूमि वाले बच्चों के लिए ऑनलाइन शिक्षा एक आपदा बन सकती है। देविका ने आत्महत्या कर ली क्योंकि वह बहिष्कार के गहरे कुएँ में धकेल दी गयी थी। उसके पास स्मार्टफोन नहीं था और टीवी सेट की मरम्मत तक कराने के लिए उसके परिवार के पास पैसे नहीं थे। देविका जैसे लाखों बच्चे हैं। लेकिन उन युवाओं के लिए भी जिनके पास स्मार्टफोन हैं-- स्कूल और विश्वविद्यालय के परिसर में कक्षाओं के बाहर जो कुछ होता है वह भी उतना ही महत्त्वपूर्ण है जितनी कक्षा में चलने वाली गतिविधियाँ।

दलित, आदिवासी और आजकल मुस्लिम छात्रों को स्कूल और कॉलेज परिसरों में अत्यन्त प्रतिकूल परिस्थितियों का सामना करना पड़ता है। हम सब को मिलकर इन लड़ाइयों को भी लड़ना होगा। ऑनलाइन हो कर खुद को सबसे अलग कर लेना हमारे समाज के लिए बेहद खतरनाक होगा। मैं ऑनलाइन शिक्षा के इस नये विचार को लेकर अत्यन्त भयभीत हूँ। जो सरकारें, लम्बे समय से शिक्षा में विनिवेश की इच्छुक रही हैं वे इस माध्यम का सहारा लेकर शिक्षा का निजीकरण करने की कोशिश करेंगी। उन्हें इसकी अनुमति नहीं दी जा सकती।

हाल ही में अनेक अतर्राष्ट्रीय कार्यकर्ताओं और शिक्षाविदों के साथ मिलकर आपने "प्रोग्रेसिव इण्टरनेशनल" नाम का मंच स्थापित किया है। इससे पूर्व भी "लेफ्ट इण्टरनेशनलिज्म" और "ब्लैक इण्टरनेशनलिज्म" जैसे मंच बने हैं। इस तरह के अधिकांश प्रयास विघटित हो गये और हमारी राजनीतिक कल्पनाएँ भी कहीं न कहीं राष्ट्रीय और नस्लीय हैं। ऐसे में "प्रोग्रेसिव इण्टरनेशनलिज्म" राष्ट्रीय स्तर पर लोकलुभावनवाद और विश्व व्यवस्थाओं की पूर्ण विफलता के सन्दर्भ में आगे कैसे बढ़ेगा?

अन्तर्राष्ट्रीय पहलकदमियों का विशेष महत्त्व है। ऐसी पहलकदमियाँ हमें परिप्रेक्ष्य, समझ, संरक्षण के तरीके और एकजुटता के मार्ग सुझाती हैं। विशेष रूप से तब जब हमारे जैसे देशों में, राजनीतिक बयानबाजी के नाम पर बदसूरत हिन्दू राष्ट्रवाद का बोलबाला है। लेकिन यह भी सत्य है कि अन्तर्राष्ट्रीयतावाद स्थानीय सांगठनिक कार्य और विरोध की जगह नहीं ले सकता। ऐसा करना एक बड़ी गलती होगी। हमें अपनी लड़ाइयाँ लड़नी होगी, और इस लड़ाई के अधिकांश हिस्से में हम अकेले ही होंगे। इसमें कोई अन्य हमारी मदद नहीं कर सकता।

वैश्विक स्तर पर प्रतिरोध आन्दोलन क्रमिक सुधारवादी आशावादी कार्यों के बजाय आमूलचूल और व्यवस्थागत परिवर्तन की माँग कर रहे हैं। भारत में, हिन्दू नाजी शासन में भी हिन्दू उदारवादी, धर्मनिरपेक्ष बुद्धिजीवी अपने आशावादी सुधारवादी राजनीतिक एजेण्डे पर जोर देते हैं। आप इसे भारतीय सन्दर्भ में कैसे देखती हैं?

इसका संक्षिप्त उत्तर तो यही है कि यथास्थिति में जिन लोगों का सामाजिक / आर्थिक / बौद्धिक कोई भी स्वार्थ होता है, उनके लिए क्रान्ति करना विरली ही बात होती है। वे व्यवस्था में थोड़ा बहुत रंग-रोगन कर या उसे ठोक-पीट कर ठीक करना चाहते

हैं। चीजों का थोड़ा-बहुत इधर-उधर हेर-फेर; इससे ज्यादा कुछ नहीं। इसलिए वे अपना विश्वास बनाये रखते हैं, आज भारत की लगभग हर सार्वजनिक संस्था न्याय, समतावाद और लोकतंत्र की कसौटी पर खरी उतरती नहीं दिखाई देती। वर्तमान हिन्दू नाजी शासन में आप द्वारा किये गये वर्गीकरण में शामिल कई लोग बह जाएँगे। लेकिन फासीवादी विचारधारा में श्रेष्ठताबोध का विचार, ब्राह्मणवाद और उस देव के विचार से भिन्न नहीं है, जिसके अनुसार ब्राह्मण ही भूमि का देवता है। यह देख पाना कठिन नहीं है कि 'दैवीय आदेश के कारण कुछ लोग श्रेष्ठ ही पैदा होते हैं और कुछ हीन' जैसे विचार श्रेष्ठताबोध से ग्रसित फासीवादी विचारधारा से कैसे घुल-मिल जाते हैं।

हमने देखा है कि कैसे एनआरसी-सीएए-एनपीआर आन्दोलन में, संविधान और भारतीय राष्ट्रीय ध्वज का इस्तेमाल प्रमुखता से किया गया। हमारा प्रश्न विशेष रूप से संविधान के बारे में है। क्या आपको लगता है कि संविधान का इस्तेमाल, दलित-बहुजन-मुस्लिम के मुख्य सवाल से ध्यान हटाने के लिए किया जा रहा है? आपके अनुसार इसके निहितार्थ क्या होंगे?

यह अत्यन्त जटिल मामला है। सोचे-समझे कारणों से लोगों को अपनी पहचान चेहरे पर पोत कर अलग-थलग पड़ जाने के लिए मजबूर किया जा रहा है। भारतीय संविधान, डॉ. अम्बेडकर ने जिसकी मसौदा समिति की अध्यक्षता की थी, अपने समय से बहुत आगे का दस्तावेज था। भारत में पहली बार नैतिक और कानूनी रूप से निर्धारित किया गया कि सभी मनुष्य समान हैं और उनके समान अधिकार हैं। भारत जैसे जाति प्रथा से ग्रस्त विविध समाज में सबसे ऊपर और सब से नीचे की पायदान पर बैठे लोगों के अतिरिक्त सभी लोग किसी न किसी पर अत्याचार करते हैं और किसी न किसी का अत्याचार सहन करते हैं। ऐसे समाज के लिए समानता और संवैधानिक नैतिकता का विचार बहुत बड़ी बात थी।

दलितों के लिए विशेष रूप से यह एक पवित्र पुस्तक है। विडम्बना यह है कि अम्बेडकर खुद संविधान के कई पहलुओं से बहुत निराश थे और उनका मानना था कि इसे एक जीवन्त दस्तावेज होना चाहिए और हर पीढ़ी को इसे सुधारने की दिशा में काम करना चाहिए। पर हिन्दू दक्षिणपंथी ताकतों द्वारा संविधान पर लगातार हमलों से बचाने की आवश्यकता है। हमें इसके लिए जुटना होगा ताकि संविधान को बचाया जा सके। अब जब आरएसएस सत्ता में है तो संविधान बचाने वालों को संविधानवाद जैसा कोई रास्ता अपनाना पड़ेगा।

साल 2019 बेहद चौंकाने वाला था। कश्मीर के विशेष दर्जे को निरस्त कर दिया गया। मुस्लिम विरोधी नागरिकता संशोधन अधिनियम लागू कर दिया गया। इन कदमों के माध्यम से सरकार द्वारा संविधान का घोर उल्लंघन किया गया। सरकार के इन कदमों का सीधा सा अर्थ यह है कि संविधान का पुनर्लेखन करने और भारत को हिन्दू राष्ट्र घोषित करने के बजाय ऐसे व्यवहार किया जाये जैसे संविधान नाम की कोई चीज है ही नहीं। मुख्यधारा की मीडिया द्वारा मुसलमानों को राष्ट्रविरोधी, पाकिस्तान-समर्थक और आतंकवादी के रूप में प्रदर्शित करना, उनके लिए भद्दी और अमानवीय भाषा का इस्तेमाल करना, अदालतों और पुलिस कार्रवाई में उनके प्रति पक्षपात और सड़कों पर उनके साथ खूनखराबा; ऐसी स्थिति में विरोध करने वाले मुसलमानों को लगा कि खुद को बचाने के लिए उनके पास सिर्फ एक ही रास्ता बचा है कि वे सड़कों पर उतर कर भारतीय ध्वज लहरायें और संविधान की प्रस्तावना का पाठ करें।

अब जब मुसलमानों का सामाजिक और आर्थिक बहिष्कार किया जाने लगा है, अब जब मुख्यधारा का मीडिया कोरोना-जिहाद और मानव-बम जैसे हैशटैग के साथ समाचार प्रसारित करता है, जब सीएए विरोधी आन्दोलन और कोरोना संकट के दौरान मुसलमानों का इलाज करने से मना कर देने जैसी खौफनाक खबरें सुनने को मिलती हैं; ऐसे हालात में भाजपा नेता कपिल मिश्रा अकड़भरी डींगे हाँक रहा है और वित्त-राज्यमंत्री अनुराग ठाकुर जिसने "देश के गद्दारों को, गोली मारों सालों को" जैसे नारे लगाये, वित्त मंत्री की बगल में बैठकर प्रेस-वार्ता को सम्बोधित करता है। जनता को इस तरह के निर्लज्ज संकेत शीर्ष से मिल रहे हैं।

क्या हम उस दृश्य को भूल सकते हैं जब फैजान, जिसके गले में लाठी उतार कर पुलिस ने उसे पहले राष्ट्रगान गाने के लिए मजबूर किया और फिर सड़क पर मरने के लिए छोड़ दिया? क्या आप कल्पना भी कर सकते हैं कि अगर ऐसा ही कुछ अमरीका में किसी अफ्रीकी अमरीकी के साथ होता तो उसका परिणाम क्या होता? हमारी शर्म कहाँ खो गयी है?

खैर, संविधानवाद पर आपके प्रश्न का उत्तर देते हुए मैं इतना ही कह सकती हूँ कि किसे विरोध करने दिया जाएगा, किसे बोलने दिया जाएगा; यह विरोध करने और बोलने वाले के धर्म, जाति, नस्ल और लिंग पर निर्भर करता है। यहाँ समानता नाम की कोई चीज नहीं है; समानता के विचार का कोई संकेत ही नहीं है, दिखावे भर के लिए भी नहीं। इसी वजह से हम बौद्धिक, सामाजिक और आर्थिक रूप से एक राष्ट्र के तौर पर अभिशप्त हो रहे हैं। सभी के लिए न्याय, सम्मान और गरिमा की कोशिश करने से अधिक मुक्तिकामी और उल्लासपूर्ण कुछ और हो नहीं सकता। ऐसा करने के लिए हमें वर्ग, जाति, लिंग के साथ-साथ सम्प्रदायवाद के प्रिज्म से देखना होगा। यह प्रतिरोध-आन्दोलनों के भीतर देखने पर भी उतना ही लागू होता है और जितना जिनके खिलाफ हम लड़ रहे हैं उन्हें देखने के लिए भी। और जब तक हम यह नहीं सीखते तब तक हम बौने ही बने रहेंगे।

रेलवे का निजीकरण : आपदा को अवसर में बदलने की कला

कोरोना महामारी के समय लाखों मजदूर हजारों किलोमीटर पैदल अपने घरों की ओर चल पड़े। खाने के लिए दो जून की रोटी क्या दाने-दाने को मोहताज हुए। बेरोजगारी का आलम यह है कि नयी नौकरियाँ मिलना तो दूर छँटनी की तलवार पर जैसे धार लग गयी है। पढ़े-लिखे लोग आजीविका चलाने के लिए ठेले-खोमचे लगाने को मजबूर हो गये हैं। वहीं हमारी सरकार ने 'आत्मनिर्भरता' और 'वोकल फॉर लोकल' के सुर में तथा 'ताली-थाली' के शोर के बीच कोरोना की आड़ लेते हुए रेलवे के 151 ट्रेनों के निजीकरण का फैसला कर लिया।

1 जुलाई 2020 को सरकार के रेलवे मंत्रालय ने 109 रूटों पर 151 ट्रेनों के निजी परिचालन के लिए प्रस्ताव माँगा था। यह प्रक्रिया नवम्बर महीने तक पूरी होगी और 2023 तक निजी ट्रेनें चलने लगेंगी। इसमें 30 हजार करोड़ का निवेश होगा। रेलवे के निजीकरण करने का कारण सरकार ने यह बताया कि यात्रियों को वर्ल्ड क्लास सुविधा मिलेगी, सुरक्षा और संरक्षण की गारण्टी होगी, नयी तकनीक से रेलवे का परिचालन होगा और रोजगार के अवसर बढ़ेंगे। सरकार के द्वारा रेलवे के निजीकरण के पीछे बताये गये इन कारणों का विश्लेषण करना जरूरी है।

विश्व स्तर की सुविधा के नाम पर पिछले साल तेजस एक्सप्रेस नाम की दो ट्रेनें चलायी गयीं। एयर होस्टेस जैसे सुन्दर रंग-बिरंगे कपड़े पहनी महिला कर्मचारियों वाली इस ट्रेन का किराया आम किराये से तीन गुना है। ट्रेन का इतना महँगा किराया तब है जब रेलवे के निजीकरण करने की शुरुआत हो रही है, यानी जब ट्रायल किया जा रहा है तब, और जब रेलवे पूरी तरह से प्राइवेट हो जाएगी और अलग-अलग इलाके की ट्रेनें अलग-अलग कम्पनियों के हाथों में होंगी तो उनमें कोई कम्पटीशन नहीं होगा, बल्कि कम्पनियों की इलाकाई एकाधिकार जैसी स्थिति होगी। वे ग्राहकों से जितना किराया वसूलना चाहेंगी, ग्राहक को उतना देना होगा। यह बात हम आसानी से समझ सकते हैं। रेल मंत्रालय ने किराये को लेकर स्पष्ट जानकरी भी दी है कि निजी ट्रेनों का किराया उस क्षेत्र में चलने वाली प्राइवेट बसों और हवाई जहाजों की तर्ज पर होगा और सरकार का उस पर कोई नियन्त्रण नहीं होगा। तेजस ट्रेन का किराया महँगा होने के चलते हालत यह है कि आधी सीटें खाली होती हैं। हम ऐसे देश में हैं जहाँ बेरोजगार, छात्र, दिहाड़ी मजदूर और दूध विक्रेता जैसे छोटे कारोबारी सरकारी ट्रेन से कम खर्चे में नियमित यात्रा करते हैं। अब ये लोग अपने महीने की आधी कमाई को किराये में लुटाकर कैसे सफर करेंगें? सुविधा के नाम पर प्राइवेट अस्पताल और प्राइवेट स्कूलों से हम पहले ही परिचित हैं और कोरोना संकट ने इनकी असलियत को पूरी तरह नंगा करके हमारे सामने ला दिया।

सरकार ने बताया कि रेलवे के निजीकरण के पीछे का एक मकसद अत्याधुनिक तकनीक द्वारा रेलवे का परिचालन है और बनने वाली निजी ट्रेनें 'मेक इन इंडिया' के द्वारा भारत में ही बनायी जाएँगी। क्या सरकार के हाथ में रहते हुए रेलवे का तकनीकी विकास नहीं हो सकता? इसका अत्याधुनिक तकनीकी विकास सरकार करा सकती है। लेकिन बुलेट ट्रेन मँगाने वाली सरकार इसकी जिम्मेदारी लेने के बजाय इसका निजीकरण कर रही है।

सरकार बार-बार यह दावा कर रही है कि रेलवे के निजीकरण से रोजगार के अवसर बढ़ेंगे। रेलवे बोर्ड के संयुक्त निदेशक अजय झा की बातों से इसका खुलासा हो जाता है। 2 जुलाई 2020 को खबर आती है कि रेलवे की 50 फीसदी नौकरी खत्म की जाएगी, सिर्फ रेलवे सुरक्षा के लिए 50 फीसदी भर्ती होंगे और बीते दो सालों की जो भर्तियाँ बहाल होनी थी उसकी भी समीक्षा की जाएगी। मतलब छँटनी तो होगी और नये रोजगार भी खत्म। रेलवे भारत का सबसे बड़ा अवरचनागत उद्योग है। सरकारी नौकरी की तैयारी करने वाले लड़कों के लिए रेलवे में नौकरी सिर्फ सपना ही रह जायेगा। रेलवे में कुल 12.3 लाख कर्मचारी हैं। सरकार के अनुसार निजीकरण के बाद सिर्फ गॉर्ड और लोकोपायलट ही सरकार की तरफ से रहेंगे। हाँ! बीपीसीएल की तरह निजीकरण से पहले स्वैच्छिक सेवा निवृत्ति (वीआरएस) का मौका जरूर दिया गया है। सरकारी कर्मचारी के अलावा स्टेशन पर किताबों का स्टाल, खाने की दुकान, पानी बेचने वाले, मूँगफली बेचने वाले आदि पूरे देश में अनुमानतः लाखों लोग रेलवे से सीधे रोजगार पाते हैं। रेलवे के निजीकरण के बाद ये लोग कहाँ जाएंगे?

नियंत्रक एवं महालेखा परीक्षक (कैग) की रिपोर्ट-2019 के अनुसार भारतीय रेलवे की कमाई बीते 10 सालों में सबसे निचले स्तर पर पहुँच चुकी है। रेलवे का परिचालन अनुपात 2017-18 में 98.44 फीसदी था। परिचालन अनुपात का मतलब है कि रेलवे को 100 रुपये कमाने के लिए 98.44 रुपये खर्च करने पड़ते हैं, जो व्यापारिक नजरिये से सबसे खराब है। उससे भी खराब बात यह है

कि रेलवे की इस समस्या का समाधान करने के बजाय सरकार रेलवे का निजीकरण कर रही है। यह वही सरकार है जो चुनाव से पहले भाषणों में कहा करती थी कि "जो लोग रेलवे को लेकर अफवाह फैला रहे हैं, सरासर गलत है। मुझसे ज्यादा इस रेलवे को कोई प्यार नहीं कर सकता। भाइयो-बहनो! इससे आप निश्चिंत रहो। निजीकरण न हमारी इच्छा है, न इरादा है, न सोच है। हम इस दिशा में कभी जा नहीं सकते आप चिन्ता मत कीजिये।" रेलवे में घाटा क्यों हो रहा है यह बड़ा सवाल है? जबकि हम देखते हैं कि रेलवे की टिकट बुकिंग दो महीने पहले से ही वेटिंग में चली जाती है। जनरल डिब्बे में लोग भेड़-बकरी की तरह एक के उपर एक सफर करते हैं। बैठने तक की जगह नहीं मिलती। फिर भी रेलवे को घाटा हो जाता है यह बात कुछ पचती नहीं है।

रेलवे का निजीकरण कोई नया नहीं है। इससे पहले ब्रिटेन, कनाडा, स्वीडन, जापान, ऑस्ट्रीलिया, न्यूजीलैण्ड और अन्य देशों में हुआ था और कुछ ही साल में उसका फिर से राष्ट्रीयकरण करना पड़ा। जिन देशों में अभी निजी ट्रेनें चल रही हैं, उनकी स्थिति ज्यादा ठीक नहीं है। 1993 में ब्रिटेन ने रेलवे का निजीकरण किया था। उसके कुछ ही साल बाद 2000 में ट्रैक/सिग्नल/स्टेशन और अन्य आधारभूत ढाँचा चलाने वाली कम्पनी दिवालिया हो गयी। इससे उबरने के लिए सरकार को उसका फिर से राष्ट्रीयकरण करना पड़ा। इसका खामियाजा भी जनता को ही भुगतना पड़ा। निजी कम्पनी और उसके मालिक का एकमात्र लक्ष्य मुनाफा कमाना होता है। और वे किसी भी कीमत पर इसे प्राप्त करने की कोशिश करते हैं। ब्रिटेन की एक कम्पनी के मालिक रिचर्ड ब्रासन की ट्रेनें रेलवे के निजीकरण के बाद चलती थी। कहने को तो ब्रासन की कम्पनी ट्रेन को घाटे में चलाती रही, लेकिन घाटे में रहते हुए भी वह नये-नये कारोबार करता रहा और अमीर बनता गया। कुछ दिन बाद उसने अचानक ऐलान किया कि अब उससे और घाटा बर्दाश्त नहीं होता और वह इसका टैक्स नहीं दे सकता। इसके बाद क्या था? सरकार ने इसकी जिम्मेदारी अपने कंधों पर ले ली, यानी उसका बोझ जनता के ऊपर डाल दिया। जब तक कारोबार में दिखावटी घाटे के बावजूद मुनाफा था, तब तक निजी कम्पनी अपना व्यवसाय चलाती रही। उसके बाद घाटे की आपूर्ति के लिए रेलवे का राष्ट्रीयकरण कर दिया गया।

रेलवे के निजीकरण से सबसे ज्यादा प्रभावित मेहनतकश वर्ग होगा, जो भारत की कुल आबादी का सबसे बड़ा हिस्सा है। जो मजदूर बड़े अरमानों के साथ गमछा में लिट्टी-चोखा बाँध कर सैकडों किलोमीटर की यात्रा करते हैं। उनके लिए वर्ल्ड क्लास की सुविधा की बात करना बहुत ही जालिमाना मजाक है। दरअसल यह लोगों की सुविधा के लिए नहीं, बल्कि पूँजीपतियों के मुनाफे की भूख को शान्त करने के लिए किया जा रहा है। जनता की सालों की मेहनत पर खड़े दुनिया में चौथे नम्बर के रेलवे नेटवर्क पर लम्बें समय से पूँजीपति आँखें गड़ाये बैठे थे। इनकी तमन्ना आज पूरी हो रही है। सरकार आज अचानक रेलवे का निजीकरण नहीं कर रही है, बल्कि पहले इसे धीरे-धीरे करना शुरू किया। पहले कुछ स्टेशन बेचा, फिर कुछ ट्रेन, अब 151 ट्रेनें और कल पूरा भारतीय रेलवे बेच देंगे। सिर्फ भारतीय रेलवे ही नहीं, जितने भी सार्वजनिक क्षेत्र की कम्पनियाँ हैं, उन सबको बेच देंगे। भारत पेट्रोलियम कार्पोरेशन लिमिटेड, भारतीय संचार निगम लिमिटेड, एयर इंडिया, प्लेटफॉर्म, कोयला खदान, महानगर टेलीफोन निगम लिमिटेड, भारतीय जीवन बीमा निगम और 23 अन्य पब्लिक सेक्टर उपक्रमों के विनिवेश (निजीकरण) की वित्त मंत्रालय ने घोषणा कर दी है। सार्वजनिक क्षेत्र के निजीकरण को लेकर भाजपा और कांग्रेस की नीतियों में अधिक फर्क नहीं है। फर्क बस इतना है कि कांग्रेस धीमी स्पीड में कर रही थी और भाजपा सुपर फास्ट स्पीड में कर रही है। दरअसल इस निजीकरण का बीज तीन दशक पहले नवउदारवादी नीतियों के जरिये ही बो दिया गया था और इसे कांग्रेस ने ही रोपा था जो अब बढ़कर विष वृक्ष बन गया है।

कोरोना संकट का लाभ उठाते हुए निजीकरण के फैसले में गजब की तेजी आयी, क्योंकि अब पहले की तरह सरकारी कम्पनियों के निजीकरण के खिलाफ उनके कर्मचारी, यूनियनें और आम जनता प्रदर्शन/हड़ताल नहीं कर सकती। पहले नेता निजीकरण शब्द बोलने से डरते थे, उसके लिए नये-नये नाम जैसे-- निवेश, विनिवेश, निगमीकरण का प्रयोग करते थे। वहीं अब सीधे तौर पर निजीकरण का प्रयोग कर रहे हैं। इससे पहले सरकार द्वारा लिए गये रेलवे के निजीकरण के फैसले के खिलाफ इलाहाबाद, पटना, दिल्ली आदि बड़े शहरों में छात्रों ने जबरदस्त हड़ताल/आन्दोलन किया था और सरकार की नीति का विरोध किया था। अब कोरोना महामारी के समय जब लोग घर से नहीं निकल सकते, एक साथ इकट्ठा नहीं हो सकते, सरकार ने आपदा को अवसर बना लिया है और वह इस कला में इतनी माहिर हो गयी है कि उसने बैखोफ हो कर रेलवे के निजीकरण जैसा बड़ा फैसला लिया और उसे इसका फायदा भी हुआ क्योंकि विरोध का स्वर कोरोना महामारी के हाहाकार में दब गया है।

-- धीरज कुमार

क्या उत्तर प्रदेश में मुसलमान होना ही गुनाह है?

पिछले तीन सालों में जब से योगी सरकार सत्ता में आयी है, उत्तर प्रदेश में मुस्लिमों की हालत खास से आम वाली बन गयी हैं। इतना आम कि अब इसे खबरों के बीच जगह भी नहीं मिलती। इताना आम कि पुलिस के लिए भी किसी का मुसलमान होना अपराधी होने के बराबर है। मुस्लिमों पर फिर्जी मुकदमें लगा कर सालों जेल में रखा जाना भी आम बात है।

इसकी नयी मिसाल मुख्य धारा की मीडिया के लिए आम बात थी, जो 25 मई 2020 पश्चिमी उत्तर प्रदेश के शामली जिले के गाँव टपराना में सामने आयी। गाँव के दो युवक अफजल और नौशाद गौ-हत्या के केस में जिला बदर किये गये थे। यह ऐसा केस है जो किसी भी मुसलमान पर कभी भी लगाया जा सकता है। उनकी जिला बदरी का समय पूरा होने में सात, आठ दिन बाकी थे। ईद के त्यौहार के कारण वे दोनों अपने घर आये थे। इस बात का पता जब स्थानीय पुलिस को लगा तो वह अफजल को पकड़ने के लिए ईद के दिन ही उसके घर पहुँच गयी, मानों कोई दुर्दान्त अपराधी आया हो। अफजल ने उनसे बचकर भागने की कोशिश की। इससे गुस्साये पुलिस अधिकारियों ने अफजल को इतनी बुरी तरह से पीटा कि उसे मुँह से खुन के फव्वारे छूटने लगे। बीच में बोलने वाले ग्रामीणों के साथ भी पुलिस ने यही सलूक किया। इससे ग्रामीणों और पुलिस के बीच झड़प हो गयी, जिसमें दो पुलिस कर्मियों के सर में चोट आयी और कई ग्रामीण घायल हुए बाद में अफजल को अस्पताल में भर्ती करना पड़ा। ग्रामीणों का कहना था कि पुलिस के खिलाफ रिपोर्ट दर्ज होनी चाहिए, लेकिन दो स्थानीय नेताओं ने वादा किया कि हम एसओ साहब को बुलाकर यहीं फैसला करवा देंगे। देर रात दोनों पक्षों के बीच फैसला हो गया।

अगले दिन शाम के समय ग्राम प्रधान के पास एसओ साहब का फोन आया कि अफजल को थाने लेकर आ जाओ। हम कुछ नहीं करेंगे। दोनों नेता, जिन्होंने फैसला करवाया था वे अफजल को लेकर झिंझाना थाने में पहुँच गये, लेकिन पुलिस ने उन्हें भी थाने में ही बैठा लिया।

रात के लगभग दो बजे पुलिस की दस-बारह गाड़ियाँ और पीएससी के दो ट्रक गाँव में आ धमके और गाँव में एक तरफ से मार-पीट और तोड़-फोड़ शुरू कर दी। लोगों ने दरवाजे नहीं खोले तो पुलिस ने हथौडों से तोड़ा और फिर अन्दर घुस गये। घर के अन्दर जो भी सामान था। सब तोड़-फोड़ दिया, जो भी सामने आया, उसे बुरी तरह से पीटा, यहाँ तक कि बच्चों, लड़कियों और जिन बुर्जुगों से चला भी नहीं जाता था, उन पर भी कोई रहम नहीं किया गया। कई घरों में मेहमान ईद मिलाप के लिए आये हुए थे, पुलिस ने उनको भी नहीं छोड़ा। एक ग्रामीण ने हमें बताया कि ऐसा लग रहा था जैसे कयामत की रात है। आज हम नहीं बचेंगे। ऐसा लग रहा था कि पुलिस ने हमें आतंकवादी मान लिया है। पुलिस लगातार गालियाँ दे रही थी, देशद्रोही कह रही थी और पाकिस्तान चले जाने की बात कर रही थी। गाँव के लगभग तीस-बत्तीस घरों में भयानक तोड़-फोड़ और मारपीट हुई तथा इकत्तीस लोगों को गिरफ्तार कर लिया गया। गाँव वालों को पुलिस के अत्याचार के खिलाफ बोलने की ऐसी सजा मिली।

अगली सुबह पुलिस ने 42 गाँव वालों के खिलाफ एफआईआर दर्ज की गयी। पुलिस ने मीडिया को बताया कि हम अफजल को पकड़ने गये थे तो गाँव वालों ने हमारे ऊपर पथराव किया, जबकि सच्चाई यह है कि उस वक्त पुलिस ने अफजल को थाने में बैठा रखा था। पुलिस ने मीडिया को पुलिस जीप पर पड़े पथरों के फोटो दिखाये। एक ग्रामीण ने हमें बताया कि पुलिस वालों ने गाँव से एक किलोमीटर दूर मजिस्द के पास अपनी गाड़ियाँ रोक रखी थी, ताकि किसी को खबर न हो सके। ऐसे में उन पर पत्थर कहाँ से बरस पड़े। गाँव वालों न बताया कि अगर पुलिस पर पत्थर फेंके भी गये तो गाड़ियाँ चार किलोमीटर चल कर थाने पहुँची और फिर उनके बोनट पर पत्थर कैसे रुक सकते है। पत्थरों में चुम्बक नहीं होता। पुलिस झूठ बोल रही है। इस घटना के बाद पुलिस के खिलाफ गाँव का कोई भी व्यक्ति बोलने से डरता है क्योंकि उन्हें धमकी दी गयी है कि अगर उन्होंने कुछ भी कहा तो उनका नाम भी एफआईआर में जोड़ दिया जाएगा। 80-90 अज्ञात लोगों की जगह खाली है। डॉक्टर अयाज खान ने पुलिस के खिलाफ मीडिया में बयान दिया, तो अगले दिन पुलिस ने डॉक्टर साहब का नाम भी एफआईआर में जोड़ दिया और उनके ऊपर लोगों को सरकार के खिलाफ भड़काने का आरोप लगाया। डॉक्टर अयाज से जब हमने बात कि तो उन्होंने कहा कि लोगों को उनके हक के लिए जागरुक करना क्या सरकार के खिलाफ लोगों को भड़काना है? दरअसल इस तरह के मामलों में कुछ अज्ञात लोगों को रखना पुलिस का एक जाँचा-परखा हथियार है, ताकि उसके ऊपर उँगली उठाने वाले को भी उसी मामले में फँसाया जा सके।

इस घटना के तीन महीने हो गये है। सभी नामजद लोग जेल में बन्द हैं, लेकिन कोई सुनवाई नहीं हुई है। भारतीय न्याय व्यवस्था ऐसी है कि इसमें किसी साधारण मामले का फैसला आने

में भी सालों लग जाते है। ऐसे मामलों में पुलिस अपने हिस्से की कार्रवाई पूरी करने में जान-बूझकर ज्यादा समय लगाती है, ताकि फँसे हुए निर्दोष लोगों का अधिक से अधिक उत्पीड़न हो। इसके अलावा अभियुक्त दोषी हो या निर्दोष वह जेल में सड़ता है और सुनवाई के बाद वह निर्दोष पाया जाता है तो उसने अपनी जिन्दगी का जो कीमती समय जेल में काटा, उसकी क्षतिपूर्ति की कोई व्यवस्था नहीं है। भारतीय विधि आयोग का मानना है कि भारत में अदालतें आसानी से जमानत नहीं देतीं, ऐसी स्थिति में पुलिस द्वारा झूठे मुकदमों में फँसाये गये लोगों को किस हद तक उत्पीड़न झेलना पड़ता है, हम इसकी कल्पना ही कर सकते हैं।

स्थानीय अखबारों की भूमिका

मीडिया के लिए तो जैसे यह नियम ही बन गया है कि उसे सत्ता का गुणगान करना है और उसके कुकर्मों पर पर्दा डालना है। 2013 में शामली और मुजफ्फरनगर जिलों में हुए दंगे के कई महीने पहले से ही स्थानीय अखबारों ने अल्पसंख्यक मुस्लिम समुदाय को बदनाम करने और बहुसंख्यक हिन्दू समुदाय को भड़काने का अभियान चला रखा था। कई मीडिया विशेषज्ञों का मानना है कि दंगों के पीछे इन अखबारों की भी एक महत्त्वपूर्ण भूमिका थी, जिसका नतीजा यह हुआ कि सौ से ज्यादा लोग मारे गये और हजारों लोग बेघर हो गये। पश्चिमी उत्तर प्रदेश में आपसी सौहार्द का जो माहौल था, उसे मीडिया ने जहरीला बना दिया और लोगों को एक भीड़ में बदल दिया जो छोटी सी बात पर भी किसी का कत्ल कर सकती है। टपराना की घटना में स्थानीय अखबारों ने कई दिन पहले से ही लिखना शुरू कर दिया कि वहाँ पर गौ तस्करी हो रही है, जिससे बहुसंख्य हिन्दुओं में मुसलमानों के खिलाफ गुस्सा पैदा हुआ और इतनी बड़ी घटना होने के बावजूद बहुत से हिन्दुओं ने कहा कि पुलिस ने सही किया। इनके साथ होना भी यही चाहिए। पिछले कुछ सालों में मीडिया मुसलमानों को हिन्दुओं की नफरत का पात्र बनाने में कामयाब रहा है और पुलिस भी इससे अछूती नहीं है।

मुस्लिमों के साथ पुलिस का रवैया

सीएसडीएस के आँकड़ों के अनुसार 56 प्रतिशत पुलिस मानती है कि मुस्लिम जन्मजात अपराधी होते हैं। इसलिए पुलिस की आम सोच यह बन गयी कि मुस्लिम होना ही अपराधी होने के लिए काफी है। अपनी इसी सोच के आधार पर व्यवहार करने के लिए उसे राज्य की योगी सरकार का बढ़ावा भी हासिल है। गाँव के एक बुजुर्ग मुस्लिम का कहना था कि क्या पुलिस जाटों, गुर्जरों, ठाकुरों को भी इस तरह पीट सकती थी? आपने कभी इनके पूरे गाँव को पिटते देखा है। बाबूजी अब यूपी में मुसलमान होना ही गुनाह है।

पुलिस द्वारा अंजाम दी गयी यह शर्मनाक घटना केवल एक जगह ही नहीं घटी है, ऐसे बहुत से ऐसे मामले है जहाँ खास तौर पर मुस्लिम समुदाय के प्रति पुलिस की बर्बरता दिखायी देती है। जैसे नागरिकता कानून संशोधन के खिलाफ खालापार, मुजफ्फरनगर में शान्तिपूर्ण प्रदर्शन कर रहे मुस्लिमों के घरों में पुलिस ने तोड़फोड़ की तथा बहुतों को संगीन धाराओं में गिरफ्तार किया। कैराना में नगरपालिका और पुलिस की मिलीभगत से लगभग 100 मुस्लिम परिवारों को उनकी जमीन से बेदखल करने और मेरठ में अवैध कॉलोनी बताकर 200 मुस्लिम परिवारों के घरों में पुलिस द्वारा आग लगवा देने जैसी घटनाएँ भी ताजा ही हैं।

इन घटनाओं से हमें पुलिस प्रशासन के एकतरफा रवैये का पता चलता है और जबसे योगी सरकार सत्ता में आयी है, तबसे मुस्लिमों पर अत्याचार और मुकदमे लगातार बढ़ते ही जा रहे हैं। एक समय था जब देश में आपसी सौहार्द की मिशालें दी जाती थीं, लेकिन अब सरकार और उसके चहेतों ने कानून अपने हाथ में ले लिया है और उसे अपने हिसाब से चला रहे हैं।

-- रवि

पेज 47 का शेष.....

सिर्फ मीडिया प्लेटफार्म पर ही नहीं है, बल्कि वह एक पेमेण्ट सिस्टम भी बनाना चाहती है। इतना ही नहीं वह इण्टरनेट की आपकी आईपी एड्रेस (इण्टरनेट पर आपका पहचान) पर नजर रखकर सोशल मीडिया से इतर आपकी गतिविधियों पर नजर रखना चाहती है। रिलायन्स के जियो और जिओमार्ट के साथ मिलकर फेसबुक भारत में अपने बाजार को बढ़ाना भी चाहती है। किसी भी देश में व्यापार को सुचारू रूप से चलाने के लिए वहाँ की सरकार का साथ देना आवश्यक है। सरकार अपनी चहेती कम्पनियों के लिए कानून बनाने से लेकर शासन-प्रशासन से जुड़ी सुविधा और सुरक्षा भी देती है। इसी के चलते विदेशी कम्पनियाँ भारत सरकार के साथ साँठ-गाँठ करने के लिए लालायित रहती हैं। इसी लालसा ने फेसबुक को लोकतंत्र विरोधी कदम उठाने के लिए प्रोत्साहित किया। वह सरकार, भाजपा और आरएसएस के साथ मिलकर एक खास विचारधारा को प्रश्रय देने लगी। इसके साथ ही विरोध की आवाज को दबाने लगी।

-- आशुतोष दुबे

कोयला खदानों के लिए भारत के सबसे पुराने जंगलों की बलि!

पूरी दुनिया जलवायु आपातकाल में पहुँच चुकी है। उसके बावजूद सरकारें इस पर कोई ध्यान नहीं दे रही हैं। पिछले कई दशकों से पर्यावरण कानूनों की धज्जियाँ उड़ायी गयीं। और तो और तबाह करने वाले नये-नये फरमान जारी किये गये।

पर्यावरण मंत्रालय की 'फॉरेस्ट एडवाइजरी कमिटी' ने ऐसा ही एक फरमान जनवरी 2019 को जारी किया जिसमें उत्तरी छत्तीसगढ़ के 'हंसदेव अरंद' जंगलों में स्थित "परसा कोयला खण्ड" की माइनिंग से जुड़े स्टेज फर्स्ट को मंजूरी दे दी गयी। जंगलों को काट कर इस फैसले से इलाके के 40 कोयला खदानों से कोयला निकालने का रास्ता साफ हो गया है। 4,20,000 एकड़ में फैले जंगलों को काटकर चार बड़े कोयला ब्लॉक बनाये जाएँगे।

यह जंगल घने साल वृक्षों, दुर्लभ पौधों, साल भर निरन्तर बहने वाली जल धाराओं और दुर्लभ जीव-जन्तुओं की प्रजातियों से सुशोभित है। यहाँ का नाजुक पारिस्थितिकी तंत्र पृथ्वी पर जीवन के लिए जरूरी है। हजारों वर्षों से कई आदिवासी जनजातियों के लोग इसी जंगल से अपना गुजर-बसर करते हैं।

जंगल 1878 वर्ग किलोमीटर के दायरे में फैला हुआ है। जिसमें से 1502 वर्ग किलोमीटर इलाका जंगली है, जो वहाँ की वन्य विविधताओं से भरा-पूरा है। जंगली जीवों और पेड़-पौधों के साथ-साथ आदिवासियों की जिन्दगी पर भी संकट आ गया है। कोयला की खुदाई में इस्तेमाल होने वाले धमाकों से वन्य जीव जंगलों से निकलकर इनसानी बस्तियों की ओर भाग रहे हैं। जिसमें बाघ और हाथी जैसे जीव भी शामिल है। इससे अब तक दर्जनों लोग अपनी जिन्दगी से हाथ धो बैठे हैं। 6,000 आदिवासी अपने घरों से बेघर होने की कगार पर पहुँच गये है।

2010 में कांग्रेस सरकार ने भारत के सबसे बड़े कोयला क्षेत्रों पर एक सर्वे कराया था। उसमें तय किया गया कि बाघों, हाथियों और जैव विविधताओं को संरक्षित रखने के लिए 30 प्रतिशत क्षेत्र पर इनसानों का प्रवेश वर्जित है। लेकिन बीजेपी सरकार ने इसे 5 प्रतिशत कर दिया।

परसा कोयला खण्ड का कामकाज "राजस्थान राज्य विद्युत निगम लिमिटड" के हाथों में है और उसने "अडानी एण्टरप्राइजेज लिमिटेड" को "माइन डेवलपर ऑपरेटर" के तौर पर अपना हिस्सेदार बनाया है।

इन दोनों कम्पनियों के संयुक्त उपक्रम से 3 ब्लाकों का खनन चालू है। पर्यावरण विरोधी इस कार्रवाई को रोकने के लिए 17 गाँवों की सभा में हजारों ग्रामीणों ने छत्तीसगढ़ बचाओ अभियान की शुरुआत की और विरोध प्रदर्शन किया। सुप्रीम कोर्ट और पीएम को भी पत्र लिखा। इनके साथ-साथ महाराष्ट्र, छत्तीसगढ़, पश्चिम बंगाल और झारखण्ड की सरकारों ने इनके समर्थन में प्रधानमंत्री को पत्र लिखा। लेकिन इन सबके बावजूद खनन कार्यों को रोका नहीं गया और इससे जुड़ी याचिकाओं को लगातार रद्द किया जाता रहा। कोयले की लूट के लिए भारी मात्रा में जंगलों का विनाश किया जा रहा है। धरती के पर्यावरण के विनाश को बढ़ाने और विकास के नाम पर हो रहे इस महाविनाश को रोकना बहुत जरूरी है क्योंकि यह किसी एक इलाके की आबादी की समस्या नहीं है, बल्कि यह हम सबके भविष्य का सवाल है।

-- आशू वर्मा

उत्तर प्रदेश सरकार ने विशेष सुरक्षा बल के गठन की अधिसूचना जारी कर दी है, जिसके तहत सुरक्षा बलों को किसी भी व्यक्ति को बिना वारंट गिरफ्तार करने, तलाशी लेने और ऐसे ही कई असीमित अधिकार मिल जाएँगे।

विशेष सुरक्षा बलों की तैनाती शुरुआत में सरकारी इमारतों, धार्मिक स्थलों जैसी महत्वपूर्ण जगहों पर होगी और निजी क्षेत्र के प्रतिष्ठान भी पैसे देकर इनकी सेवाएँ ले सकेंगे।

हाल ही में विधानसभा के संक्षिप्त मानसून सत्र में इस विधेयक को पारित किया गया था और फिर राज्यपाल की मंजूरी मिलने के बाद इसे लागू करने की अधिसूचना जारी कर दी गयी है।

(बीबीसी हिन्दी, 14 सितम्बर 2020)

वाल स्ट्रीट जर्नल ने फेसबुक और सरकार के बीच गठजोड़ का खुलासा किया

14 अगस्त को अमरीका के 'वाल स्ट्रीट जर्नल' ने एक रिपोर्ट प्रकाशित की। उस रिपोर्ट में फेसबुक द्वारा दोहरा रवैय्या अपनाने की तथ्यात्मक पुष्टि की गयी थी, जिसमें भारत की सत्तारूढ़ पार्टी के तीन नेताओं के बेहद घृणास्पद और विवादित बयानों को फेसबुक से नहीं हटाने पर सवाल किये गये थे। ये सवाल बेहद गम्भीर और जरूरी हैं। नेताओं के ये बयान स्वयं फेसबुक के "कम्युनिटी स्टैण्डर्ड" के खिलाफ थे। जवाब में फेसबुक की भारत, दक्षिण एशिया और मध्य एशिया की "पब्लिक पॉलिसी" प्रमुख ने बताया कि ऐसा करने से उनकी कम्पनी के व्यापारिक हितों को नुकसान होगा और सत्तारूढ़ पार्टी से रिश्तों में खटास आएगी। फरवरी 2019 से अब तक भाजपा चुनाव प्रचार, पार्टी मुद्दों को आगे बढ़ाने और फेसबुक पर भाजपा की पकड़ बनाये रखने के लिए फेसबुक के ऊपर 4.61 करोड़ रुपये लुटा चुकी है। भाजपा फेसबुक पर 'माई फर्स्ट वोट फॉर मोदी', 'मन की बात' और 'नेशन विद नमो' प्लेट फार्म चलाने के लिए खूब पैसा खर्च कर रही है। इन खुलासों के बाद सोशल मीडिया पर जमकर विवाद हुआ। कुछ लोगों ने फेसबुक के 'लोगो' को नीले रंग से भगवा करके अपने पोस्ट पर साझा किया।

इन विवादों के बीच हमें याद रखना चाहिए कि फेसबुक निजी मालिकाने वाली एक दैत्याकार अमरीकी कम्पनी है जो अपने आर्थिक हित को ही प्राथमिकता देती है और ये हित ही उसके लिए मुख्य चालक शक्ति हैं। इन हितों को पूरा करने और बढ़ावा देने के लिए वह अपने खुद के बनाये हुए नियमों को तोड़ने के लिए कानूनी रूप से स्वतंत्र हैं। यह बात भी ध्यान देने लायक है कि फेसबुक पर दोहरे मानदण्डों के तहत काम करने का यह कोई पहला आरोप नहीं है। फेसबुक पर लिखने और पोस्ट करनेवाले सरकार की नीतियों के अधिकांश आलोचक कभी न कभी फेसबुक के इस दोहरे मानदण्ड का शिकार होते ही हैं। इसके अलावा इस कम्पनी ने ब्राजील, सयुंक्त राज्य अमरीका और कई अन्य देशों में सामाजिक रूप से अराजक लोगों को प्रचारित और प्रसारित किया है।

फेसबुक एक सोशल मीडिया प्लेटफॉर्म भी है जो किसी व्यक्ति से जुड़ी सूचनाओं को उसकी फेसबुक वाल पर साझा करने की अनुमति देता है, जिसे फेसबुक इन्टरनेट के माध्यम से उस व्यक्ति से जुड़े लोगों तक पहुँचा देता है। आपकी अपनी बात कहने की सुविधा भी फेसबुक द्वारा बनायी गयी नीतियों के अन्तर्गत ही होती है। फेसबुक, व्हाट्सएप्प, स्नैपचैट, इन्स्टाग्राम और ट्विटर जैसे सोशल मीडिया पर हर सेकण्ड में लाखों गीगा बाईट डेटा का आदान-प्रदान होता है। सिर्फ एक उपभोक्ता के एक महीने के डेटा (औसतन 2 गीगा बाईट) को सुरक्षित करने में हमें 100-150 रुपये के मेमोरी कार्ड की जरूरत पड़ती है। अब अगर यह आँकड़ा अरबों उपभोक्ता और दस वर्षों का हो तो? कौन इन्हें सुरक्षित रखा है और क्यों? आपके गोपनीय डेटा की बिक्री और विज्ञापन से होने वाली कमाई के लिए कम्पनियाँ कई सालों तक डेटा अपने पास सुरक्षित रखती हैं।

मान लीजिए कि किसी व्यक्ति की मासिक आय सिर्फ दस हजार रुपये है तो क्या उसके लिए कम्पनी द्वारा चार करोड़ की गाड़ी का विज्ञापन देना उचित कदम होगा? नहीं, तो फिर उसकी आय ग्रुप के लिए सटीक विज्ञापन क्या होगा? इसका पता लगाने के लिए जरूरी है कि कम्पनी उसके बारे में सही-सही जानकारी हासिल करे। यानी उसका नाम, उम्र, रंग, लिंग, यौनिकता, शिक्षा, वैवाहिक स्थिति, आमदनी, खरीदने वाले सामान, इस्तेमाल करने वाले उपकरण, पढ़ने वाली पुस्तकें, अखबार, सामाजिक-आर्थिक हैसियत, राजनीतिक झुकाव, दोस्त और दोस्तों के बीच बात-चीत के मुद्दे आदि। सीधे शब्दों में कहा जाये कि इनसान जो कुछ भी है, वह सब कम्पनियाँ जान लेना चाहती हैं।

गलत खबरों के प्रचार-प्रसार में सोशल मीडिया एक अहम भूमिका निभाता है। फेसबुक की एक रिपोर्ट के अनुसार झूठी खबरें, हिंसा की खबरें, साम्प्रदायिकता और राष्ट्रीयता की खबरें सच्ची खबरों की तुलना में जल्दी वायरल होती हैं, यानी तेजी से, बहुत तेजी से फैलाती हैं। भारत में ऐसी खबरों से दंगे भड़क जाते हैं, मोब-लिंचिंग होती है और लोगों को सच लिखने के चलते ट्रोल किया जाता है। सोशल मीडिया कम्पनियों पर सामाजिक रूप से इन बुरे नतीजों से कुछ फर्क नहीं पड़ता, उन्हें बस अपनी कमाई से मतलब होता है। मुनाफे को केन्द्र में रखकर काम करने वाली निजी मालिकाने वाली कम्पनियों के लिए मानवता विरोधी खबरें भी स्वर्णिम अवसर की तरह होती हैं और वे उसे पूरी तत्परता से भुनाती हैं। सोशल मीडिया कम्पनियाँ एक तरफ फर्जी खबरे फैलाने में सहायक होती हैं, तो दूसरी ओर वे वास्तविक खबरों को सेंसर भी करती हैं।

भारत में फेसबुक के सबसे ज्यादा उपभोक्ता हैं। मतलब सबसे ज्यादा धन कमाने का मौका। फेसबुक की शातिराना नजर

शेष पेज 45 पर.....

आवश्यक वस्तु अधिनियम में संशोधन किसके हित में

5 जून को सरकार एक पुराने कानून 'आवश्यक वस्तु अधिनियम' में संशोधन सहित दो नये कानून लेकर आयी है। दो नये कानूनों-- फार्मर एम्पावरमेण्ट एण्ड प्रोटेक्शन एग्रीमेण्ट ऑन प्राइस एश्युरेंस एण्ड फार्म सर्विसेज आर्डिनेंस (एफएपीएएफएस-2020) और द फार्मर्स प्रोड्यूस ट्रेड एण्ड कॉमर्स प्रमोशन एण्ड फेसिलिटेशन, (एफपीटीसी-2020) को उसने अध्यादेश के जरिये लागू किया है। इन अध्यादेशों को लागू करते समय कहा गया कि इससे किसानों को उनकी उपज के सही दाम मिलेंगे और उनकी आय में बढ़ोत्तरी होगी।

अगर इन अध्यादेशों से किसानों का ही फायदा है तो क्यों देश भर के किसान संगठन, मण्डी समितियों में काम करने वाले छोटे व्यापारी और कर्मचारी इन कानूनों का विरोध कर रहे हैं और इसे रद्द करने की माँग कर रहे हैं? और क्यों कृषि उत्पाद के व्यापार में लगे बड़े सरमायेदार इस अध्यादेश के लिए सरकार की तारीफ कर रहे हैं? दरअसल, सरकार ने जो कानून बनाये हैं, उनसे किसानों से ज्यादा बड़े व्यापरियों और निजी कम्पनियों को लाभ होगा। विरोध प्रदर्शन कर रहे किसानों का कहना है कि सरकार जिस ठेका खेती को कानूनी जामा पहनाकर उसे हमारे फायदे का बता रही है, दरअसल वह हमें अपने खेत में ही बँधुआ मजदूर बना देने की गहरी साजिश है। अगर यह कानून लागू हो गया तो हम अपनी पसन्द से फसल नहीं उगा सकेंगे, बल्कि उद्योगपतियों के लिए कच्चे माल पैदा करेंगे और वह भी उनकी कीमत तथा शर्तों पर। जब उन्हें जरूरत नहीं होगी तो वे हमारी फसल खरीदने से इनकार कर देंगे। ऐसी हालत में हम अपनी फसल को कहाँ ले जाएँगे? ऐसा पहले भी कई बार हो चुका है, जब कम्पनियों द्वारा फसल खरीदने से पीछे हटने पर किसान बर्बाद हो गये।

सरकार की तरफ से जारी विज्ञापनों में सबसे ज्यादा प्रचार तीसरे कानून एफपीटीसी-2020 का किया जा रहा है। विज्ञापनों में इसे 'एक राष्ट्र-एक बाजार' के तौर पर प्रचारित किया जा रहा है। सरकार की तरफ से कहा गया है कि पहले "किसानों को अपनी फसल बेचने के लिए यहाँ-वहाँ भटकना पड़ता था। अब ऐसा नहीं होगा। किसान अब अपनी फसल देश के किसी कोने में, जहाँ बेहतर दाम मिलें, वहाँ बेच सकते हैं। इस कानून से भी बड़ी कम्पनियों व व्यापारियों, बड़े फार्मरों और धनी किसानों का ही फायदा है क्योंकि सारे सीमा शुल्क हटा दिये गये हैं। एक मध्यम या गरीब किसान अपना 10-20 कुन्तल अनाज लेकर पंजाब से महाराष्ट्र बेचने तो जाएगा नहीं, क्योंकि न तो उसके पास ढुलाई का किराया देने के पैसे हैं और न ही उसके पास इतना फालतू समय। उनकी फसल देश के दूसरे हिस्से में कम्पनियों व व्यापारियों द्वारा ही पहुँचाई जा सकेगी, इससे मध्यम या गरीब किसान उन पर निर्भर हो जायेंगे और उनका शोषण बढ़ जाएगा। जाहिर है कि 'एक राष्ट्र-एक बाजार' किसके लिए बनाया जा रहा है।

सच्चाई यह है कि यह अध्यादेश केन्द्र सरकार के द्वारा कोरोना काल में लोगों की मजबूरी का फायदा उठाते हुए देशी-विदेशी सरमायादारों, सट्टेबाजों और जमाखोरों के हित में लाये गये हैं। इसका पूँजी के वैश्वीकरण के इस दौर में एक राष्ट्र, एक बाजार जैसे जुमले की आड़ में सरकार अपने असली मंसूबे को छिपा रही है। इसका असली मकसद किसानों की कठिन मेहनत से पैदा होने वाली उपज की खरीद-बिक्री और सट्टेबाजी करके बेहिसाब मुनाफा कमाना है।

इन कानूनों से देश के संघीय ढाँचे को चोट पहुँचेगी और केन्द्र व राज्य के रिश्ते में राज्य को कमजोर कर दिया जाएगा। खेती से जुड़े फैसले व नियमों पर राज्य की जगह केन्द्र को बढ़त मिलेगी। केन्द्र से राज्य को राजस्व नहीं मिलेगा। इससे किसानों की आवाज सीधे सरकार तक नहीं पहुँच सकेगी। ऐसे कानूनों से किसानों की आमदनी दुगनी होने से तो रही, उल्टा पहले से भी कम हो जायेगी।

किसानों की समस्या लगातार बढ़ती जा रही है। इसका मतलब साफ है कि आज किसानों की ऐसी कोई देशव्यापी पार्टी या संगठन नहीं है जो उनके हक-हुकूक के लिए पूरे देश में अपनी आवाज बुलन्द कर सके। ऐसे में आज किसानों के सामने दो ही रास्ते हैं। या तो वे बदहाली से तंग आकर खुद को कोसते रहें या फिर अपने बेहतर भविष्य के लिए एकजुट होकर बदलाव के लिए संघर्ष करें।

"जब साहित्य का काम केवल मन-बहलाव का सामान जुटाना, केवल लोरियाँ गा-गाकर सुलाना, केवल आँसू बहाकर जी हलका करना था, तब तक इसके लिए कर्म की आवश्यकता न थी। वह एक दीवाना था, जिसका गम दूसरे खाते थे, मगर हम साहित्य को केवल मनोरंजन और विलासिता की वस्तु नहीं समझते। हमारी कसौटी पर वही साहित्य खरा उतरेगा, जिसमें उच्च चिंतन हो, स्वाधीनता का भाव हो, सौंदर्य का सार हो, सृजन की आत्मा हो, जीवन की सचाइयों का प्रकाश हो-- जो हममें गति और बेचैनी पैदा करे, सुलाए नहीं; क्योंकि अब और ज्यादा सोना मृत्यु का लक्षण है।"

(साहित्य का उद्देश्य, प्रेमचन्द)

महाराष्ट्र के कपास किसानों की दुर्दशा उन्हीं की जबानी

(महाराष्ट्र किसानों का हाल जानने के लिए लेखक ने नागपुर जिले के अलग-अलग गाँव के किसानों से बात की, जिसे यहाँ साझा किया जा रहा है। इन किसानों की आप-बीती सुनने के बाद सचमुच बहुत हैरानी होती है। यह एहसास होता है कि किसानों की परेशानी कम होने के बजाय दिन दूनी रात चौगुनी रफ्तार से लगातार बढ़ती जा रही है।)

अखबारों में किसानों की दुर्दशा के बारे में अक्सर लेख छपते हैं, जिन्हें पढ़कर ऐसा लगता है कि आजादी का उत्सव मनाते देश के किसान आत्महत्या से आजाद नहीं हुए हैं। राष्ट्रीय अपराध रिकार्ड ब्यूरो के अनुसार साल 2014 से 2018 के बीच हर साल क्रमशः 12,360, 12,602, 11,379, 10,655 और 10,349 किसानों ने मौत को गले लगा लिया। यानी कुल मिलाकर पिछले 5 सालों में देश के 57,000 से भी अधिक किसानों ने आत्महत्या कर ली। पूरे देश में सबसे ज्यादा आत्महत्या महाराष्ट्र के किसानों ने की। नवम्बर 2019 में जहाँ एक तरफ महाराष्ट्र में राजनीतिक पार्टियों का चुनावी नाटक चल रहा था, सत्ता की कुर्सी पर बैठने के लिए नेता तीन-तिकड़म में लगे हुए थे, तो दूसरी तरफ किसान बेमौसम भारी बारिश से परेशान थे। उनकी परेशानी इतनी ज्यादा बढ़ गयी थी कि किसान आत्महत्या करने पर मजबूर हो गये। सिर्फ नवम्बर के महीने में ही एक या दो नहीं बल्कि 300 से ज्यादा किसानों ने अपने प्राण गवाँ दिये।

अखबारों की इन खबरों की पुष्टि करने के लिए और महाराष्ट्र किसानों की जिन्दगी को नजदीक से जानने के लिए उनके बीच जाना जरूरी था। इसी सिलसिले में सबसे पहले चिमनाझिरी गाँव के रमेश शंकराव अवचत से मुलाकात की गयी। इनके पास 17 एकड़ जमीन है। 10 एकड़ जमीन अपने गाँव में ही है। बाकी गाँव से 10 किलोमीटर दूर है। गाँव की जमीन में खुद खेती करते हैं, बाकी ठेके पर दे दिया है। ये मुख्य रूप से कपास की खेती करते हैं। इन्होंने बताया कि 8 एकड़ में कपास, बाकी में तूर और सोयाबीन बो दिया है। बातचीत के दौरान पता चला कि एक एकड़ में कपास की लागत 20,000 रुपये से अधिक आ जाती है, जिसमें बीटी कपास का बीज 3000 रुपये, दवा का छिड़काव 3000-5000 रुपये, खाद का 8000 रुपये और कभी कभी गुड़ाई, चुनाई के लिए जो बाहर से मजदूर लगाए जाते हैं, उसके लिए लगभग 7000 रुपये। कपास की फसल आठ माह में तैयार होती है, खेती के काम में परिवार के चार सदस्य लगते हैं, उनकी मजदूरी, जमीन का किराया, सिंचाई, जुताई आदि का खर्च इसमें शामिल नहीं है। कपास का न्यूनतम समर्थन मूल्य (एमएसपी) 5400 रुपये प्रति कुन्तल है, जो कभी किसानों को नहीं मिलता। सभी किसान 5000 रुपये प्रति कुन्तल के हिसाब से अपनी फसल बेचने को मजबूर होते हैं।

रमेश ने आगे बताया कि एक एकड़ कपास की फसल पर आठ माह तक मेहनत से केवल 10,000-15,000 रुपये ही मिल पाते हैं। अब इन्हीं रुपयों में घर का खर्च, बच्चों की फीस, कपड़े, दवा आदि के खर्चे शामिल होते हैं, तो इतनी कम आमदनी में पुराता नहीं है। मजबूरन बैंक से कर्ज लेना ही पड़ा। अभी परिवार पर 2,00,000 रुपये का कर्ज है जो पिछले कई सालों से चुका नहीं पा रहे। उन्होंने यह भी बताया कि जो परिवार सिर्फ खेती पर निर्भर हैं, उसके आत्महत्या करने की गुंजाइश और भी बढ़ जाती है। मेरे दो बेटे कम्पनी में काम करने न जाते तो हमारी भी आत्महत्या करने की नौबत आ जाती। उनकी जानकारी वाले 70 से ज्यादा लोगों ने अब तक आत्महत्या कर ली हैं?।

दूसरी बातचीत दिल्ली गाँव के गंगाधर से हुई। ये छः एकड़ के किसान हैं जो अपने 16 साल के बेटे के साथ निर्माण क्षेत्र में 300 रुपये रोजाना की मजदूरी भी करते हैं। इनकी कहानी भी रमेश से अलग नहीं है। इन पर भी 1,00,000 रुपये का कर्ज था। अभी हाल ही में पूरा परिवार मेहनत मजदूरी करके, पेट काटकर कर्ज चुका पाया है। इन्होंने भी अपनी जमीन में कपास उगा रखा है। वे खुद बता रहे थे कि अगर हम बाहर मजदूरी न करें तो घर चलाने के लिए या तो कर्ज लेना पड़ेगा या फिर भूखों मरना होगा।

हमारी तीसरी बातचीत सोने गाँव के देवराव से हुई। इनमें और बाकी दो किसानों में यह अन्तर है कि इनकी खुद की जमीन नहीं है। ये ठेके पर जमीन लेकर खेती करते हैं। अभी 2.5 एकड़ में कपास उगा रखा है। ये राजगीर हैं और लोगों का घर बनाकर अपनी आमदनी की पूर्ति करते हैं। अपनी खेती से अलग पूरा समय दूसरों के यहाँ मजदूरी करने में बीत जाता है, तब जाकर इनके परिवार का गुजारा हो पाता है। इनकी खेती की लागत बाकियों की तुलना में 10,000 रुपये (जमीन का किराया) और अधिक है। उन्होंने बताया कि खेती से जो भी 25,000-30,000 रुपये की कमाई होती है, उसका अधिकांश हिस्सा वापस अगली फसल में लग जाता है, क्योंकि लगातार बीटी बीज के रेट में भारी बढ़ोतरी, खाद, कीटनाशक की मात्रा में बढ़ोतरी से लागत बढ़ती

रही है। 5 साल पहले कपास का बाजार भाव 4500 रुपये था, जो आज तक सिर्फ 500 रुपये ही बढ़े हैं। इनकी स्थिति बाकियों से भी बदतर है।

इस तरह हम देखते हैं कि पूरे परिवार की मेहनत के बावजूद गरीब किसानों और भूमिहीन किसानों की आमदनी इतनी भी नहीं कि वे अपने परिवार का पेट पाल सकें। ऐसी हालत में उन्हें बाहर जाकर मजदूरी करनी पड़ती है, लेकिन कोरोना संकट ने रोजगार के अवसर कम कर दिये हैं, जिसके चलते मजदूरी न मिलने से किसान परिवार का गुजारा भी मुश्किल हो गया और वे आत्महत्या की ओर धकेले जा रहे हैं।

-- नवनीत

खिलौना व्यापारियों के साथ खिलवाड़

30 अगस्त को मन की बात में प्रधानमंत्री ने खिलौना उद्योग के बारे में बात की। उन्होंने कहा कि पूरी दुनिया में खिलौना उद्योग का कारोबार सात लाख करोड़ से भी अधिक है जिसमें भारत का हिस्सा बेहद कम है, आगे उन्होंने कहा कि खलौना उद्योग में हिस्सेदारी बढ़ाने के लिए छोटे और बड़े व्यापरियों को मिलकर मेहनत करनी होगी। उनकी इस बात से सदर बाजार में बैठे खिलौना व्यापारी नाराज हैं। सदर बाजार एशिया की सबसे बड़ी थोक मार्किट है। वहाँ के व्यापारियों का कहना है कि मोदी सरकार की कथनी-करनी में बड़ा फर्क है।

भारत में खिलौनों का जो बाजार है, उसका करीब 80 प्रतिशत चीन से आयात करके पूरा होता है। साथ ही चीनी खिलौनें सस्ते और गुणवत्ता में भी बेहतर माने जाते है। टॉय एसोसिएशन ऑफ इंडिया के अनुसार, भारत में हर साल चीन से करीब चार हजार करोड़ रुपये के खिलौने आयात किये जाते हैं। इन खिलौनों का बाजार मूल्य करीब 12 हजार करोड़ रुपये होता है, जबकि भारतीय खिलौनों का व्यापार एक हजार करोड़ रुपये का भी नहीं है। भारतीय खिलौना उद्योग को बढ़ावा देने के लिए सरकार ने कोई ठोस नीति नहीं बनाई। बल्कि 2017 में सरकार सर्टिफिकेशन के नये नियम लेकर आयी, जिसके चलते व्यापारियों को हर उत्पाद पर लगभग एक लाख रुपये अतिरिक्त देने पड़े। फिर सरकार ने आयात होने वाले खिलौनों पर इंपोर्ट ड्यूटी 20 फीसदी से बढ़ाकर सीधे 60 फीसदी कर दी। इसका भार भी व्यपारियों और खरीददारों पर ही पड़ा।

1951 से खिलौनों का व्यापार कर रहे सिंधवानी ब्रदर्स के अजय कुमार कहते हैं, 'खिलौनों का व्यापार सबसे पहले 90 के दशक में प्रभावित हुआ था, जब उदारवादी नीतियाँ अपनायी गयीं और विदेशी खिलौने भारतीय बाजारों में तेजी से आने शुरू हुए। उसके बाद इस व्यापार में सबसे ज्यादा नुकसान इसी सरकार के दौरान हुआ है। वह आगे कहते हैं कि 'पहले नोटबन्दी ने खिलौनों के व्यापार को बड़ी चोट दी। नोटबन्दी नवंबर में हुई थी जब सॉफ्ट टॉय का सीजन शुरू होता है और वैलेण्टाइन तक चलता है। उस साल पूरा सीजन मारा गया। फिर जीएसटी ने खिलौनों पर लगने वाले टैक्स को पाँच फीसदी से बढ़ाकर 12 फीसदी और इलेक्ट्रॉनिक खिलौनों पर 18 फीसदी तक कर दिया। उसके बाद खिलौनों पर आयात शुल्क दो सौ फीसदी बढ़ा दी गयी और अब ब्यूरो ऑफ इंडियन स्टैण्डर्ड्ज (बीआईएस) सर्टिफिकेशन खिलौना व्यापारियों की कमर तोड़ने जा रहा है।

मोदी सरकार ने देश में बिकने वाले सभी खिलौनों के लिए बीआईएस सर्टिफिकेशन अनिवार्य करने का फैसला लिया है। इस फैसलें की शर्तों पर खरा उतरना आयातकों और भारतीय निर्माताओं दोनों के लिए मुश्किल है। देश में खिलौने बनाने वाले ज्यादतर छोटे-मोटे व्यापारी ही हैं। उनके लिए बीआईएस की शर्तें पूरी करना मुमकिन नहीं है, क्योंकि इसके लिए हर व्यापारी को एक अलग लैब बनवानी होगी। हमारे देश में खिलौनों के कारखाने बहुत छोटी-छोटी जगहों पर चलते हैं, उनमें लैब की जगह कहाँ से निकलेगी और इसका खर्च भी छोटे व्यापारी नहीं उठा सकेंगे। आखिर सरकार ऐसा क्यों कर रही है?

इसी के साथ इस खबर पर गौर करना जरूरी है कि मई 2019 में मुकेश अम्बानी की रिलायंस रीटेल ने हेमलेज को 620 करोड़ रुपये में खरीदा था। हेमलेज ब्रिटेन की खिलौना बनाने वाली मल्टीनेशनल कम्पनी है जिसे दुनिया की सबसे पुरानी और सबसे बड़ी खिलौना कम्पनी कहा जाता है।

मुकेश अम्बानी का खिलौनें के व्यापार में आना, खिलौनों पर बीआईएस की शर्तें लागू होना और प्रधानमंत्री का 'मन की बात' में खिलौनों के व्यापार का जिक्र करना, संयोग नहीं है बल्कि एक प्रयोग है। भारत में खिलौनों का बहुत बड़ा बाजार है, जिसमे अधिकतर माल आयत किया जाता है। इस बड़े बाजार को सरकार अपने चहेते अम्बानी को सौपना चाहती है। ये सभी फैसले इसी और इशारा कर रहें हैं।

--मोहित कुमार

"तबलीगी जमात को बलि का बकरा बनाया गया"-- बम्बई उच्च न्यायालय

22 अगस्त को बम्बई उच्च न्यायालय के औरंगाबाद बेंच ने दिल्ली के निजामुद्दीन में मरकज में शामिल हुए तबलीगी जमात के 29 सदस्यों के खिलाफ दर्ज मुकदमों को खारिज कर दिया।

लॉकडाउन से ठीक पहले मार्च के पहले और दूसरे सप्ताह में निजामुद्दीन मरकज में हजारों देशी-विदेशी नागरिक शामिल हुए थे। अचानक लॉकडाउन के चलते बहुत से लोग तो वहीं फँस गये जबकि बहुत से जमाती देश के अलग-अलग हिस्सों में जा चुके थे। देश के तमाम दूसरे नागरिकों की तरह तबलीगी जमात में शामिल रहे ये लोग भी अलग-अलग जगह फँस गये। कोरोना से निपटने में सरकार को अपनी नाकामियों को छिपाने के लिए तबलीगी जमात के रूप में एक आसान शिकार मिल गया। सरकार का भोंपू बन चुके प्रिण्ट और इलेक्ट्रानिक मीडिया के बड़े हिस्से ने तमाम कानूनों और कौमी एकता के तमाम मूल्यों को ताक पर रखकर तबलीगी जमात के साथ-साथ पूरे मुस्लिम समुदाय के खिलाफ दुष्प्रचार किया। हद यह थी कि उन्हें षडयंत्रकारी और कोरोना बम की संज्ञा दी गयी। केन्द्र की भाजपा सरकार की यही मंशा थी।

जब तबलीगी जमात के साथ ही पूरे मुस्लिम समुदाय के खिलाफ माहौल बन गया तो केन्द्र सरकार तथाकथित 'कोरोना बम' को डिफ्रयुज करने के लिए अबतरित हुई। देश के अलग-अलग राज्यों में पहुँचे जमातियों के खिलाफ कठोर कानूनों के तहत मुकदमें दर्ज करने के आदेश जारी किये गये। 22 अगस्त बम्बई उच्च न्यायालय ने 29 जमातियों के खिलाफ महाराष्ट्र पुलिस द्वारा दर्ज ऐसे ही मुकदमे को खारिज किया है।

55 पेज के अपने आदेश में न्यायालय ने सरकार और मीडिया पर कुछ बेहद गम्भीर टिप्पणियाँ की हैं। हालाँकि हमारे इस बहुरंगी देश पर बेहयाई इस कदर हावी है कि जिनके खिलाफ न्यायालय ने बोला, उन पर ऐसी बातों का कोई खास फर्फ नहीं पड़ता। फिर भी, न्यायालय द्वारा कही गयी बातों पर गौर करना इसलिये जरूरी है कि कम से कम यह सरकार और मीडिया के चरित्र पर एक आधिकारिक बयान है।

पीठ ने अपने आदेश में कहा है कि महामारी या विपत्ति के समय सरकार एक बलि का बकरा ढूँढने की कोशिश करती है और हालात बताते हैं कि सम्भवतया इन नागरिकों को बलि का बकरा बनाने के लिए चुना गया था।

न्यायालय ने माना है कि राज्य सरकार ने राजनीतिक मजबूरी के चलते इन नागरिकों के खिलाफ मुकदमा दर्ज किया था। इसका अर्थ है कि आज सत्ता की राजनीति इतनी पतित हो चुकी है कि राजनीतिक लाभ के लिए लोगों को झूठे मुकदमों में कैद कर लेना उसका चरित्र बन गया है।

न्यायालय ने यह भी माना है कि हमारे देश में कानून सबके लिए एक जैसा नहीं है, सरकार ने अलग धर्म और अलग देश के नागरिकों के साथ अलग तरह का बर्ताव किया है।

प्रिण्ट और इलेक्ट्रानिक मीडिया को कड़ी फटकार लगाते हुए न्यायालय ने कहा है कि मीडिया ने इन लोगों के खिलाफ दुष्प्रचार का अभियान चलाया जिससे ऐसा माहौल तैयार हुआ, मानो देश में कोरोना के संक्रमण के लिए यही लोग जिम्मेदार हों। इससे हुए नुकसान के लिए पश्चाताप किया जाना चाहिए और क्षतिपूर्ति के लिए सकारात्मक कदम उठाये जाने चाहिए।

न्यायालय ने अपना फैसला सुना दिया है। लेकिन क्या बात सिर्फ इतनी ही है। जिस नुकसान के लिए पश्चताप की बात न्यायालय ने की है आखिर वह नुकसान क्या था?

किसी जघन्य अपराध की याद मिट जाने के लिहाज से चार-पाँच महीने बहुत लम्बा वक्त नहीं होता। तबलीगी जमात के बहाने से अप्रैल के शुरू में किसी तरह सरकार के जरखरीद मीडिया ने दुष्प्रचार की आँधी चलाकर पूरे मुस्लिम समुदाय को 'कोरोना बम' पर्यायवाची बना दिया था, यह हम सबको अच्छी तरह याद है।

हमें यह भी याद है कि इसके बाद कैसे जगह-जगह मुस्लिमों को अपमानित किया गया। इन्टरनेट के जरिये हम तक पहुँचे वे तमाम वीडियो आज भी हमारे दिमाग में तैर रहे हैं जिनमें लाचार, बेबस गरीब सब्जी बेचने वाले और फल बेचने वाले मुस्लिमों की स्थानीय भाजपाई लम्पटों द्वारा बर्बर पिटाई के दृश्य थे। हमें इन्हीं लम्पटों द्वारा उन मुस्लिमों को पीट-पीट कर अधमरे कर दिये गये लहूलुहान जिस्म भी याद हैं जिन पर 'थूकने का आरोप था।' हमारे आस-पास ही गली-मुहल्ला सड़क हर जगह पुलिस नहीं, भाजपाई लम्पट मुस्लिमों के कागजात चेक करते उन्हें धमकाकर भगाते, पीटते दिख जाते थे। अस्पताल में भर्ती कोरोना सक्रमित तबलीगी जमात के लोगों की बहुत गन्दी छवि प्रस्तुत की गयी, यहाँ तक कि कुछ स्वास्थ्य कर्मियों द्वारा उनके उपचार से मना करने की भी खबर आयी। और क्या-क्या याद किया जाये, फेहरिस्त बहुत लम्बी है और

इन्हें गिनाना यहाँ हमारा मकसद नहीं है।

इस दौरान जो मुस्लिम नागरिक सरकार और उसके मीडिया द्वारा प्रायोजित शारीरिक मानसिक उत्पीड़न के शिकार हुए उनके नुकसान की भरपाई कैसे होगी। उनके तो केस भी दर्ज नहीं किये गये। क्या अब भी भारत को अपना मादरे वतन मानने की उनसे उसी तरह उम्मीद की जाये जैसी पहले की जाती थी और जिस पर वे हमेशा खरे उतरे। कोरोना से निपटने की नाकामियों को छिपाने के लिए सरकार और मीडिया के गठजोड़ ने एक समुदाय को निशाना बनाने का जो काम किया है, क्या यह देश के संविधान और आपसी भाईचारे के खिलाफ जघन्य अपराध नहीं है। क्या यह पूरे देश की जनता और मानवता के खिलाफ अपराध नहीं है।

फिर एक बार दोहराने की जरूरत है, न्यायालय ने नुकसान के लिए 'पश्चाताप' करने की बात कही है। समाज की एकता पर चोट पहुँचाइये संविधान की धज्जियाँ उड़ाइये, एक समुदाय को 'कोरोना बम' कहकर पुकारिये, बली का बकरा बनाइये, मारिये-पीटिये और अब सब कुकर्म करके थक जायें फिर 'पश्चाताप' कर लीजिये। चाहे तो गंगा भी नहा लीजिये। हालाँकि पश्चाताप करने की भी दूर-दूर तक कोई सम्भावना दिखाई नहीं देती।

दूसरी बात क्षतिपूर्ति के लिए सकारात्मक कदम उठाने की है। एक सकारात्मक कदम सरकार उठा चुकी है। अप्रैल के अन्त में इस मुद्दे पर अरब देशों की डाँट खाने के बाद भारत सरकार ने एक सकारात्मक कदम उठाया था। हम सबके मोबाइल फोन पर एक नयी सरकारी धुन बजनी शुरू हो गयी थी-- कोरोना महामारी हैं यह जाति धर्म नहीं देखती।

बाकी की क्षतिपूर्ति पूरे देश की जनता करेगी, हमारी आने वाली पीढ़ियाँ करेंगी, और जरूर करेंगी। इतिहास कभी अपना काम अधूरा नहीं छोडता।

-- प्रवीण कुमार

अमेजन के आदिवासियों का विरोध प्रदर्शन

अमेजन के कायापो आदिवासी समुदाय के लोग ब्राजील की सड़कों पर अपनी पारम्परिक पोशाक पहन कर और हाथों में तीर-धनुष लेकर विरोध प्रदर्शन कर रहे हैं। इसका कारण क्या है?

पहला कारण है-- अमेजन के जंगलों में इन आदिवासियों के बीच कोरोना वायरस का अनियंत्रित रूप से फैलना और जेयर बोल्शेनारो सरकार की ओर से किसी भी तरह की मदद नहीं मिलना।

दूसरा कारण है-- बोल्शेनारो की नीतियों की वजह से अमेजन के जंगलों का सफाया किया जाना, जिसकी वजह से इन आदिवासियों का अस्तित्व बहुत गहरे संकट में पड़ गया है।

ये वही बोल्शेनारो है जिसने राष्ट्रपति का चुनाव जीतते ही अमेजन के जंगलों से आदिवासियों के अधिकारों को पूर्णतः खत्म करने का प्रण लिया था और घोषणा की थी कि अमेजन के जंगलों और उसकी भूमि का इस्तेमाल ब्राजील के विकास के लिए व्यावसायिक तौर पर किया जाएगा।

सर्वज्ञात है कि जेयर बोल्शेनारो शुद्ध दक्षिणपंथी व्यक्ति है। इसकी पूँजीपतियों से गहरी साँठगाँठ है। इसलिए पूँजीपतियों की तिजोरियाँ भरने के लिए ये व्यक्ति आदिवासियों की बलि चढ़ाने पर आमादा है।

ब्राजील के आदिवासी इस समय दोहरी मार झेल रहे हैं। एक तो दक्षिणपंथी सरकार की जंगल उजाड़ने सम्बन्धी नीतियों की वजह से और दूसरा कोरोना महामारी की वजह से।

कोरोना से अभी तक 21 हजार से अधिक आदिवासी संक्रमित हो चुके हैं और 618 लोग अपनी जान गँवा चुके हैं।

पूँजीवादी सरकारें आदिवासी जनता को मुनाफे की खातिर खत्म करने पर तुली हुई हैं, ऊपर से आदिवासियों के सफाये के लिए कोरोना वायरस इनके लिए अवसर बनकर आया है।

-- पूजा पवार

दिल्ली उच्च न्यायलय ने केन्द्र सरकार को केवल पाखण्डी ही नहीं कहा

27 अगस्त को दिल्ली उच्च न्यायालय ने केन्द्र सरकार के सबसे खास कार्यक्रमों-- मेक इन इंडिया और आत्मनिर्भर भारत को ढोंग करार दिया। यानी केन्द्र सरकार के जो दावे अब तक जुमलों में तब्दील हुए हैं उसमें दो का इजाफा हो गया है। उच्च न्यायालय के अनुसार केन्द्र की मोदी सरकार की कथनी और करनी में भारी अन्तर है और यह सरकार ढिंढोरे बाज और पाखण्डी है।

दिल्ली उच्च न्यायलय के न्यायमूर्ति विपिन सांघी और न्यायमुर्ति रजनीश भटनागर की पीठ ने एक याचिका की सुनवाई के दौरान केन्द्र सरकार के बारे में अपनी यह राय जाहिर की। यह याचिका सेण्टर फॉर एविएशन पॉलिसी, सेफ्टी एण्ड रिसर्च ने दाखिल की थी। इस संस्था ने क्षेत्रीय हवाई अड्डों पर ग्राउण्ड हैण्डलिंग सर्विस उपलब्ध कराने के लिए मँगाये गये टेंडरों में केन्द्र सरकार द्वारा कम्पनियों की योग्यता के पैमाने में बदलाव के खिलाफ दाखिल की गयी थी। अब न्यायालय ने केन्द्र सरकार और एएआई को नोटिस जारी करके जवाब माँगा है और निर्देश दिया है कि इस याचिका के फैसले पर ही टेण्डरों के आवण्टन की वैधता निर्भर होगी।

उच्च न्यायलय ने इस मुद्दे पर केन्द्र सरकार के खिलाफ कड़ा रूख दिखाया है। पीठ का कहना है कि यह बेहद दुखद है कि एक ओर तो सरकार 'मेक इन इंडिया' और 'आत्मनिर्भर भारत' बनाने की बात करती है और दूसरी तरफ टेण्डरों के आवण्टन में ऐसी शर्तें रखती है जो छोटी कम्पनियों को हिस्सेदारी करने से रोकती है। सरकार स्थानीय उद्योगों को बढ़ावा देने की बात करती है लेकिन यह बात उसकी कार्रवाइयों से मेल नहीं खाती। केन्द्र सरकार पूरी तरह पाखण्डी है।

दरअसल आवण्टन की प्रक्रिया में भाग लेने वाली कम्पनी के लिए केन्द्र सरकार ने पुराने नियमों में बदलाव करके कम्पनी के पस 35 करोड़ रुपये से ज्यादा की उपलब्धता और शेड्यूल्ड एयर लाइन्स के साथ काम करने की योग्यता का पैमाना बनाया है।

इस बदलाव को खासतौर पर रेखाकिंत करते हुए पीठ ने कहा कि सरकार बड़ी जेब वाले और बड़े विदेशी खिलाड़ियों को ही खेल के मैदान में रहने देना चाहती है। अगर छोटे खिलाड़ियों को विकसित नहीं होने दिया जायेगा तो कुछ ही बड़े खिलाड़ी बचेंगे जो बाजार पर अपने कब्जे के चलते सरकार पर अपनी शर्तें थोपेंगे। असली महत्त्व की बात यही है। जगजाहिर है कि केन्द्र सरकार देश के पूरे परिवहन तंत्र पर अम्बानी-अडानी की जोड़ी को पूरी तरह काबिज देखना चाहती है। रेलवे और हवाई परिवहन को पूरी तरह निजी हाथों में सौंपने का फैसला सरकार पहले ही कर चुकी है। इससे भी आगे सरकार की चिन्ता है कि इन दोनों तंत्रों पर केवल उसके चहेते पूँजीपतियों की कम्पनियों का ही कब्जा हो। इसका अर्थ है कि लोकतंत्र जो देश की जनता के लिए तो पहले भी नहीं था, वह पूँजीपति वर्ग के लिए भी खत्म हो चुका है। पूँजीवादी लोकतंत्र का स्थान एक साम्राज्यवादी अल्पतंत्र ले चुका है जिस पर सरकार का नियंत्रण नहीं है बल्कि वह सरकार को नियंत्रित करता है। इसके उदाहरण रोज-रोज हमारे सामने आते हैं। दिल्ली उच्च न्यायालय की वास्तविक चिन्ता यही है।

पेज 59 का शेष...

चाहिए, जिसमें हमारे इतिहास का एक सही मूल्यांकन शामिल हो।

इसके बजाय, अब हमारे पास एक ऐसी प्रणाली है, जहाँ ऐसे लोग हैं जो अपनी जीविका चलाने के लिए कई मोर्चों पर अपनी जिन्दगी के लिए एक खौफ के साथ काम करते हैं, जो कि कोविड महामारी की बदइन्तजामी से शुरू होता है, जिसके चलते लाखों लोगों की जान चली गयी, जिनमें से विशाल बहुमत मजदूरों की है। इसमें संयुक्त राज्य अमरीका (सैन्य-औद्योगिक परिसर) के उन बड़े मालिकों द्वारा छेड़े गये अन्तहीन युद्धों में मरने वाले लोगों को भी शामिल कर लें, जिनको वे अपने साम्राज्य को बचाये रखने और अपनी तिजोरी भरने के लिए मार डालते हैं।

ये युद्ध किसानों और मजदूर वर्ग के लोगों को सबसे ज्यादा संख्या में मार डालते हैं, जिनमें अमरीकी सैनिक भी शामिल हैं, जिनको दुनिया भर के अनगिनत नागरिकों से लड़ने के लिए भेजा जाता है, जिनमें हमेशा ही गरीब लोग होते हैं--- महिलाएँ, बच्चे और बूढ़े लोग जो बमबारी के समय भाग नहीं सकते हैं। इन साम्राज्यवादी युद्धों का अन्त होना जरूरी है। सबसे बड़ी बात यह कि हमारे काले भाई और बहनों के खिलाफ पुलिस हिंसा को समाप्त करने की जरूरत है! और हर जगह मजदूरों के खिलाफ शासक वर्ग की हिंसा को खत्म करना जरूरी है।

हमें एक ऐसे समाज की आवश्यकता है, जो सबकी देखभाल, सहयोग और मानवीय जरूरतों के लिए उत्पादन पर आधारित हो और उसे इस तरह से संचालित किया जाये जिससे मानव अस्तित्व को बढ़ावा मिले और हम सब को जीवन देने वाली इस धरती का संरक्षण हो।

(चूक चर्चिल इतिहास के सेवानिवृत्त व्याख्याता हैं। उन्होंने कैल स्टेट चिको और ओरेगन स्टेट यूनिवर्सिटी में पढ़ाया। वे "थू द नीडल आईः एलीट रूल एण्ड द इल्यूसंस ऑफ फ्रीडम" के लेखक हैं। काउण्टरपंच से साभार। अनुवाद-- दिगम्बर)

निजीकरण : बेच रहे हैं मोदी दुख तुम्हें क्यों?

जब से केन्द्र सरकार ने निजीकरण की रफ्तार को तेज की है, देश भर में इसके समर्थन और विरोध में बहसें जारी हैं। इन बहसों के बीच आज शायद ही कोई यह बता सके कि तेजी से दौड़ती हुई निजीकरण की गाड़ी कब और किस स्टेशन पर रुकेगी। सवाल यह भी है कि प्रधनमंत्री ने कुछ साल पहले बड़े भावनात्मक अन्दाज में कहा था कि "मैं देश नहीं बिकने दूँगा", इससे उनका क्या अभिप्राय था? क्या देश की सार्वजनिक सस्थाओं और सम्पतियों को बेचना देश बेचना नहीं है। अगर ऐसा नहीं है तो देश बेचने का क्या अर्थ है?

वह किस्सा हम सभी जानते है कि जब राजा का हाथी मरा, तो सजा के डर से कर्मचारी ने राजा से सीधे नहीं कहा कि हाथी मर गया है। उसने राजा को बताया कि हाथी न तो खा रहा है, न देख रहा है, वह साँस भी नहीं ले रहा है, उसकी धड़कन भी नहीं चल रही है। हुबहू यही हालत देश में चल रहे निजीकरण की है। मीडिया इस पर बात करने से कतराता है कि देश टुकड़े-टुकड़े कर के बेचा जा रहा है, इसके बदले चर्चा का बिन्दु है-- रेलवे का विकास और उसे कुशल बनाना। हद तो तब हो गयी जब सोशल मीडिया पर लोग सरकार के ऊपर व्यंग्य बाण चलाते हुए कहते है कि सरकार भी ठीक से देश नहीं चला पा रही है, उसका भी निजीकरण कर देना चाहिए। रोजगार तलाश करने वाले नौजवानों के बीच भी इसे लेकर बहस जारी है। एक तरफ जहाँ सरकारी नौकरी की तैयारी करने वाले नौजवान निजीकरण के चलते निराश-हताश हैं तो दूसरी ओर आज भी ढेर सारे नौजवान सरकारी प्रचार के प्रभाव में निजीकरण को अच्छा बता रहे हैं। सवाल यह भी उठ रहा है कि अगर सार्वजनिक कम्पनियाँ घाटे में है तो उन्हें कोई क्यों खरीदेगा और अगर वे फायदे में हैं तो सरकार उन्हें बेच क्यों रही है।

प्रधानमंत्री कार्यालय ने सूचना दी है कि जल्द ही सरकार आईडीबीआई सहित चार सरकारी बैंकों को बेच देगी। इससे जुडी सारी प्रक्रिया का निपटारा तेजी से किया जा रहा है। आईडीबीआई बैंक का काफी बड़ा हिस्सा पहले से ही निजी हाथों में है, अभी इसमें सरकार की हिस्सेदारी 41.17 फिसदी ही रह गयी है। सरकार की माने तो वह खुद इन बैंकों को मुनाफे में चला पाने में असफल है। इनसे अलग भी कई बैंकों का निजीकरण भविष्य में होने की सम्भावना है।

रेलवे को पूरी तरह बेचने की प्रक्रिया पर निगाह डाली जाये तो दिल दहलाने वाला दृश्य सामने आता है। जैसे कसाई किसी जिन्दा हाथी की गर्दन, पेट, पूँछ और पैर काटकर बेच रहा हो और हाथी केवल दर्द से कराहने के अलावा कुछ न कर पा रहा हो। इससे भी बुरी हालत में रेलवे को टुकड़े-टुकड़े करके बेचा जा रहा है। सबसे पहले रेलवे के स्टेशनों को बेचा गया, फिर बड़े रेलवे कारखानों का निगमीकरण (निगमीकरण की आड़ में सरकारी हिस्सेदारी की बिक्री) किया गया, इसके बाद ट्रेनों का निजीकरण किया गया और अब आईआरसीटीसी को अडानी-अम्बानी के हाथों में बेचने की तैयारी चल रही है। इस दौरान रेलवे से जुड़े कर्मचारियों की रोजगार सुरक्षा छीन ली गयी। कर्मचारियों के हितों पर हमला किया गया। उनके दुखों और चिन्ताओं को नजरअन्दाज कर दिया गया। निजीकरण के विरोध में हो रहे प्रदर्शनों से मीडिया और सरकार ने मुँह मोड़ लिया। इससे जनता के बीच प्रधानमंत्री की छवि गिरती जा रही है, लेकिन सरकार निश्चिन्त है कि पहले की तरह आगे भी वह चन्द सिक्के और नये जुमले उछालकर अपनी छवि चमका लेगी।

आईआरसीटीसी रेलवे में टिकटों की बिक्री और रिजर्वेशन के अलावा ट्रैवल इंसोरेन्स का काम देखती है। वह ट्रेनों में भोजन की आपूर्ति करती है और टूरिज्म की व्यवस्था भी करती है। इन सभी कारोबारों के जरिये 2019 में इसने 1899 करोड़ रुपये की कुल बिक्री की, जिससे 272.5 करोड़ रुपये का मुनाफा हुआ। इस कम्पनी में 99 फीसदी हिस्सेदारी सरकार की थी, जिसमें से आईपीओ के जरिये 12.5 फीसदी हिस्सेदारी बेच दी गयी। बाकी की हिस्सेदारी अडानी-अम्बानी को सौंपने की तैयारी चल रही है।

"देश नहीं बिकने दूँगा" से चलकर सरकार देश को टुकड़े-टुकड़े करके बेचने की स्थिति में आ गयी है। दूसरी तिमाही में सकल घरेलू उत्पाद में ऐतिहासिक 24 फीसदी की गिरावट हुई है, इस दबाव में सरकार निजीकरण को और तेजी से बढ़ावा देगी। निजीकरण को लेकर लोगों में चिन्ता और गुस्सा बढ़ता जा रहा है। अपनी चिन्ताओं को जाहिर करने पर लोगों को कुछ मोदी समर्थकों से ऐसे जवाब सुनने को मिल रहे हैं, "बेच रहे हैं मोदीजी, दुख तुम्हें क्यों हो रहा है?" मासूम अन्धभक्त कुछ भी देखने-समझने के लिए तैयार नहीं हैं। उनकी जिन्दगी का एकमात्र उद्देश्य है हर कीमत पर मोदी का बचाव।

-- विक्रम प्रताप

खाली जेब, खाली पेट, सर पर कर्ज लेकर मजदूर कहाँ जायें

कोरोना महामारी के दौरान शहरों से वापस अपने गाँव लौट रहे मजदूरों के सैलाब को अपनी आँखों से नहीं भी, तो मीडिया के मार्फत हम सब ने देखा। कोई इनकी संख्या तीन करोड़ बताता है, कोई 13 करोड़। सही संख्या चाहे जो हो लेकिन यह तय है कि ये सभी लोग मेहनत-मजदूरी करके कमाने वाले लोग हैं। अपनी और अपने परिवार की चिन्ता में मजदूर गाँव में चले तो गये थे, लेकिन वहाँ उनकी जीविका का कोई इन्तजाम नहीं था। मजबूरन उन्हें जल्दी ही उन शहरों की ओर लौटना पड़ा जहाँ नाममात्र के ही काम बचे हैं और महामारी का खतरा पहले से कहीं ज्यादा है।

मार्च में लॉकडाउन के तुगलकी फरमान ने मजदूरों को उन्हीं गाँवों की ओर वापस धकेल दिया जिन्हें छोड़कर वे शहर आये थे। इससे पहले गाँव से शहर की ओर हुए पलायन की तमाम वजहों में सबसे महत्त्वपूर्ण थी मजदूरी की दर। आँकडे बताते हैं कि शहरों में मजदूरी गाँव से 40 प्रतिश्त ज्यादा है। इसके साथ ही काम मिलने की सम्भावना अधिक होने के चलते मजदूर की आय में 2.5 गुणा तक की बढोतरी की सम्भावना रहती है। पिछले कई सालों से गाँव में संकट बढ़ रहा था। खेती, जहाँ अधिकतर मजदूर काम पाते हैं, इससे होने वाली आय लगातार घट रही थी। इसकी सीधी मार ग्रामीण आय पर पड़ी। नतीजन गाँव में उपभोक्ता सामानों की खपत लगातार घट रही थी। कोरोना से पहले 2019 की दूसरी छमाही में अर्थशास्त्रियों ने इस पर चिन्ता व्यक्त की थी।

मनरेगा कार्यक्रम का एक प्रमुख उद्देश्य ग्रामीण मजदूरों के लिए रोटी की गारण्टी करना भी था। खेती में घट रही आय के जानलेवा प्रभाव से ग्रामीण मजदूरों को राहत देने के लिए जरूरी था कि सरकार लगातार मनरेगा का विस्तार करती और इसमें दी जाने वाली मजदूरी की दर को बढ़ाती। लेकिन भाजपा सरकार आने के बाद मनरेगा के लिए जारी रकम में कटौती की गयी। इस साल कोरोना के दौरान मई में इस रकम में बढ़ोतरी हुई लेकिन उसका असर कई महीनों बाद दिखायी देगा इससे पहले ही शहरों से मजदूरों की वापसी के चलते ग्रामीण रोजगार पर दबाव कई गुणा बढ़ गया था। बढ़ायी गयी रकम उस दबाव को झेलने के लिए भी नाकाफी है।

ग्रामीण मजदूरों का एक बड़ा हिस्सा रीयल स्टेट या इमारत निर्माण के क्षेत्र में मौसमी मजदूरी करता है। यह क्षेत्र भी कोरोना के काफी पहले से संकट ग्रस्त था। इससे ग्रामीण मजदूरों की आय में गिरावट जारी थी। कोरोना महामारी ने इसे पूरी तरह ठप्प कर दिया, यानी ग्रामीण रोजगार पर भयावह संकट।

गाँवों में रोजगार के भारी संकट पर शहरों से लौटे मजदूरों के पहाड़ जैसे बोझ को भी लाद दिया जाये, और कल्पना कीजिए लॉकडाउन में ग्रामीण क्षेत्र में रोजगार की हालत के बारे में।

मजदूरों के गाँव में लौटने पर एक ही काम हुआ, उन्होंने गाँव के कुलकों, साहूकारों से 10 फीसदी माहवार (120 फीसदी सालाना) की ब्याज दर से कर्ज लेकर रोटी खायी। अब गाँव के साहूकारों को और ज्यादा अमीर बनाकर और अपने परिवार पर भयावह ब्याज दर का भारी बोझ डालकर मजदूर फिर से शहर लौट रहे हैं। शहरी क्षेत्र में रोजगार की हालत भी ग्रामीण क्षेत्र से ज्यादा अलग नहीं है। राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण (एनएसएसओ) के अनुसार कोरोना महामारी से दो साल पहले ही 2017-18 में भारत में बेरोजगारी की दर ने पिछले 45 सालों का रिकॉर्ड तोड़ दिया था। कोरोना से ठीक पहले 2020 के शुरुआती तीन महीनों में यह और भी ज्यादा बढ़कर 9 प्रतिशत तक पहुँच गयी थी। कोरोना काल में तो सरकार ने लॉकअन करके खुद ही सब कुछ बन्द कर दिया।

इसमें भारत का कितना हिस्सा है यह बता पाना तो अभी मुश्किल है लेकिन भारत, पाकिस्ता, श्रीलंका, बांग्लादेश (दक्षिण एशिया) में पिछले तीन महीनों में लगभग 13.5 करोड़ लोगों की नौकरियाँ छूटी हैं। अगर परिवार में सदस्यों की संख्या को 5 माना जाये तो लगभग 68 करोड़ लोगों की जीविका उजड़ गयी है। इसमें भारत का हिस्सा आधे से ज्यादा है। हालाँकि इसमें भी दिहाड़ी मजदूरों की संख्या को शामिल नहीं किया गया है।

मनीकण्ट्रोल के अर्थशास्त्री एम सरस्वती की एक रिपोर्ट बताती है कि 24 मार्च को लॉकडाउन के बाद भारत में 1 करोड़ से अधिक लोगों को नौकरी से निकाल दिया गया। यह संख्या 2008-2009 के वित्तीय संकट में नौकरी से निकाले गये लोगों की संख्या से लगभग दो गुनी है।

सीएमआईई के अनुसार अप्रैल 2020 में 1.77 करोड़ वेतन भोगी कर्मचारी अपनी नौकरियों से निकाल दिये गये हैं। यह संख्या पूरे देश के कुल सरकारी कर्मचारियों की संख्या से ज्यादा है। अगले ही महीने मई में और 10 लाख लोगों को नौकरी से निकाला गया।

अगले महीने जून में 40 लाख नौकरियाँ वापस आयीं, जिससे लगा कि अब धीरे-धीरे अर्थव्यवस्था रफ्तार पकड़ रही है, लेकिन सीएमआईई का अनुमान है कि अप्रैल से जुलाई के बीच कुल मिलाकर 1.89 करोड़ से अधिक लोग बेरोजगार हुए हैं। इस आँकड़े में भी दिहाड़ी मजदूरों की संख्या शामिल नहीं है।

पूँजीपतियों के संगठन सीआईआई की रिपोर्ट में कहा गया है कि लॉकडाउन के चलते 52 प्रतिश्त नौकरियाँ खत्म या प्रभावित हुई हैं। इसके बाद 11 जुलाई 2020 को भारत सरकार ने नौकरी के लिए एक वेबसाइट पोर्टल लांच किया पर इसकी भी हालत हमारी व्यवस्था

की ही तरह ढुलमुल दिखाई दे रहा है।

वरिष्ट बिजनेस पत्रकार पूजा मेहरा का कहना है कि "लॉकडाउन का सबसे ज्यादा असर अनौपचारिक क्षेत्र पर पड़ा है।" इस क्षेत्र का हमारी सकल घरेलू उत्पाद (जीडीपी) में 50 प्रतिशत हिस्सा है और इस क्षेत्र में कुल कामगारों के 90 फीसदी से ज्यादा लगे हुए हैं। इस क्षेत्र का अधिकतर कामकाज अभी ठप्प पड़ा है। जो चल रहा है जैसे रिक्शा, ऑटो, फल-सब्जी बेचने वाले, रेहड़ी-खोमचा लगाने वाले उनकी आमदनी में 70 प्रतिशत तक की गिरावट आयी है।

अब लॉकडाउन खुलने का चौथा चरण शुरू हो चुका है लेकिन अधिकतर काम धन्धों की ऐसी स्थिति नहीं है कि वे खड़े होकर अपने कदमों पर चल सकें। खासतौर पर असंगठित क्षेत्र के छोटे-छोटे काम-धन्धें में रोजगार पाने वाले अधिकतर मजदूर अपने परिवार को गाँव में ही छोड़कर शहर वापस लौट आये हैं। यहाँ भी मुस्तकिल काम नहीं है। इन मजदूरों की भारी संख्या रेलवे स्टेशनों, फुटपाथों और फ्लाइओवर के नीचे दिन काट रही है। दूसरी ओर, गाँव में परिवार पर 120 प्रतिशत की ब्याज दर का कर्ज राकेट की रफ्तार से बढ़ता जा रहा है। सीएमआईई के अनुसार अप्रैल व मई 2020 में बेरोजगारी की दर बढ़कर क्रमशः 23.52 प्रतिशत, 23.48 प्रतिशत तक जा पहुँची। अन्तरराष्ट्रीय श्रम संगठन (आईएलओ) के अनुसार इस साल की पहली तिमाही में दुनिया में करीब 18.5 करोड़ लोगों को उनकी नौकरियों से निकाल दिया गया था जिसमें दिहाड़ी मजदूर शामिल नहीं हैं। दूसरी तिमाही (अप्रैल से जून) में जितना काम ठप्प हुआ वह 48 करोड़ नौकरियाँ जाने के बराबर है।

हाल ही में सरकार ने बताया कि गाँव की ओर लौटने के दौरान कितने मजदूरों की मौत हुई, कितने अपाहिज हुए, इसका कोई आँकड़ा उसके पास नहीं है। बेरोजगारी की इस भयावह स्थिति को देखते हुए गाँव से रोजगार की तलाश में दुबारा शहर की ओर आने वाले मजदूरों की स्थिति क्या होगी, यह कल्पना करना मुश्किल है।

-- आशू वर्मा

द शॉक डॉक्ट्रिन : द राइज ऑफ डिजास्टर कैपिटलिज्म

कोरोना महामारी के समय लोगों को उम्मीद थी कि सरकारें जनता के लिए बेहतर काम करेंगी, लेकिन दुनिया भर की सरकारों की रणनीति जनता पर हमला करने की ही रही है। कई लोगों को ऐसा लग सकता है कि सरकारें जनता से बदला ले रही हैं, लेकिन असली बात यह है कि दुनिया भर की सरकारें मिल्टन फ्रीडमैन द्वारा दिये गये "शॉक डॉक्ट्रिन" पर काम कर रही हैं।

2007 में कनाडाई लेखिका और सामाजिक कार्यकर्ता नाओमी क्लेन ने एक किताब लिखी--- द शॉक डॉक्ट्रिनः द राइज ऑफ डिजास्टर कैपिटलिज्म। लेखिका का तर्क है कि कुछ विकसित देशों द्वारा नवउदारवादी मुक्त बाजार नीतियों को लागू करने के लिए "शॉक थेरेपी" रणनीति को खुलकर बढ़ावा दिया गया। अर्थशास्त्री मिल्टन फ्रीडमैन ने "शॉक थेरेपी" की वकालत की थी। फ्रीडमैन ने विवादास्पद, संदिग्ध और जनविरोधी नीतियों को स्थापित करने के लिए राष्ट्रीय संकट (आपदा या उथल-पुथल) का इस्तेमाल करने पर जोर दिया था। राष्ट्रीय आपदा ऐसा समय होता है, जब देश के नागरिक भावनात्मक और शारीरिक रूप से कमजोर हो जाते हैं। सरकारें उसी समय उन पर हमला करती हैं। ऐसे कठिन हालात में देश के नागरिक सरकार की जनविरोधी नीतियों का प्रभावी ढंग से विरोध नहीं कर पाते। लेखिका ने अपनी किताब में कुछ मानव निर्मित घटनाओं जैसे इराक युद्ध को चिन्हित किया है, जब इस तरह की अलोकप्रिय नीतियों को आगे बढ़ाया गया था।

इस किताब की शुरुआत मनोचिकित्सक इवेन कैमरून द्वारा अमरीका की बदनाम केन्द्रीय खुफिया एजेंसी (सीआईए) की मिलीभगत से किए गये गुप्त प्रयोगों के साथ होती है। 1950 में सीआईए शॉक थेरेपी के जरिये मनोरोगियों पर प्रयोग करता है। दूसरे अध्याय में मिल्टन फ्रीडमैन और उनके शिकागो स्कूल ऑफ इकोनॉमिक्स का परिचय दिया गया है। मिल्टन फ्रीडमैन नवउदारवादी अर्थव्यवस्था के प्रबल समर्थक हैं। वे पूँजीवाद को लाईसेज-फेयर यानी मुक्त बाजार के दौर में लौटाने की बात कहते हैं।

किताब में आगे 1970 के दशक में दक्षिण अमरीकी अर्थव्यवस्थाओं को बदलने के लिए "शॉक थेरेपी" के उपयोग पर बात की गयी है, जो 1973 में चिली के जनरल ऑगस्टो पिनोशे के नेतृत्व में तख्तापलट पर केन्द्रित है। सीआईए ने अमरीका के अर्थशास्त्र विभाग को फण्ड उपलब्ध कराया और मिल्टन फ्रीडमैन ने उसे सलाह दी। क्लेन का कहना है कि मार्गरेट थैचर ने फॉकलैण्ड्स युद्ध की सुविधा के लिए हल्का "शॉक थेरेपी" लागू की थी। 1997 की एशियाई वित्तीय संकट के दौरान पोलैण्ड, रूस, दक्षिण अफ्रीका और एशियाई टाइगर अर्थव्यवस्थाओं में "शॉक थेरेपी" को लागू किया गया था। लेखिका दावा करती है कि कम्पनियों ने आपदाओं से लाभ उठाना सीख लिया है। लेखिका ने इराक पर 2003 के आक्रमण और इराक के बाद के कब्जे में "शॉक थेरेपी" के उपयोग पर चर्चा की है।

एटलस साइकिल की फैक्ट्री में तालाबन्दी : मसला घाटे का नहीं जमीन का है

कोरोना महामारी के दौर में चारों तरफ से कम्पनियों के बन्द होने की खबरें लगातार आ रही हैं। कई उद्योगों के मालिकों ने घाटे का हवाला देकर अपनी कम्पनियाँ ही बन्द कर दी हैं। एटलस साइकिल कम्पनी ने पिछले दिनों साइकिल दिवस के अवसर पर ही अपना आखिरी बचा साहिबाबाद प्लाण्ट भी बन्द कर दिया। आचनक कम्पनी बन्द हो जाने की घोषणा से काम कर रहे मजदूरों की जिन्दगी में भूचाल आ गया। भविष्य की चिन्ताओं में सभी कर्मचारियों की जीवन धारा विपरीत दिशा में मोड़ दी गयी है, पहले ही टेढ़े-मेढ़े और कठिन रास्तों से गुजर रही थी।

एटलस कम्पनी 60 साल से भारत में काम कर रही है। बाकी प्लाण्ट तो कम्पनी ने पहले ही बन्द कर दिये थे। साहिबाबाद का प्लाण्ट आखिरी था जो चल रहा था। इस प्लाण्ट में बहुत से मजदूर 20-25 साल से कम्पनी के लिए काम करते आ रहे थे। इन्होंने अपनी जिन्दगी के अनमोल दिन और अपनी शारीरिक ताकत एटलस कम्पनी को दिया हैं। कम्पनी को अनवरत मुनाफा दिया है। इन्हीं मजदूरों की वजह से आज एटलस भारत की नामी कम्पनी है। लेकिन आज एटलस और अन्य कम्पनियों ने मजदूरों को क्या दिया? मजदूर भले ही हर संकट के समय अपने मालिक के साथ खड़े रहे हों, लेकिन मालिक हमेशा इसके उलट ही करता रहा है।

"कम्पनी मालिकों की सरकार में इतनी गहरी पैठ होती है कि कम्पनी बन्द करने की इन्हें सरकार से अनुमति लेने या मजदूरों की रोजगार गारण्टी देने की कोई जरूरत नहीं होती और न ही किसी पूर्व नोटिस की"। श्रमिक संघ के हस्तक्षेप के बाद कम्पनी के सीईओ ने आश्वासन दिया कि कम्पनी को कुछ समय के लिए बन्द किया जा रहा है, हम जल्द ही काम शुरू करेंगे और तब तक के लिए कर्मचारियों को "ले-ऑफ मजदूरी" दी जाएगी। लेकिन कम्पनी ने ले ऑफ मजदूरी के बारे में पूरी जानकारी नहीं दी। समान्यतः ले ऑफ मजदूरी कुल मजदूरी का आधा हिस्सा होती है।

एटलस कम्पनी में न्यूनतम मजदूरी लगभग 13,600 मासिक है। ले-ऑफ मजदूरी 6800 मासिक होनी चाहिए, पर मिलती नहीं है। इसमें से श्रमिकों के पीएफ और अन्य योगदानों के लिए 2000 रुपये काट लिए जाएँगे। यानी कुल मिलाकर चार हजार आठ सौ से भी कम बैठेगा। इस राशि को भी पाने के लिए मजदूरों को रोज कम्पनी रजिस्टर पर अपने हस्ताक्षर करने पड़ेंगे। इतनी कम राशि में मजदूर मकान का किराया दें या फिर अपने परिवार का भरण पोषण करें।

एटलस कम्पनी के अनुसार कारखाने में कुल 431 श्रमिक हैं जबकि श्रमिक संघ के मुताबिक कम्पनी में लगभग पाँच सौ अन्य मजदूर अस्थायी तौर पर काम करते हैं। इन मजदूरों का कम्पनी ने कहीं जिक्र तक नहीं किया है। इन्हें न कोई वेतन मिलेगा और न ही काम शुरू होने पर इन्हें बुलाया जाएगा।

एटलस कम्पनी की बन्दी से प्रभावित होने वाले मजदूरों की संख्या कम नहीं है। एटलस के उत्पादन में जो भी सहयोगी इकाइयाँ रही हैं जहाँ से कारखाने के कल-पुर्जे और अन्य माल खरीदा और बेचा जाता रहा है, उन इकाइयों में काम करने वाले हजारों मजदूरों की हालत भी इस फैसले से सीधे प्रभावित होगी। यानी मजदूरों की एक बड़ी संख्या को एटलस कम्पनी ने अचानक एक फैसला लेकर बेरोजगार कर दिया। अब मजदूर खाना खर्चा, बच्चों की पढ़ाई, इलाज के खर्च और मकान के किराये को ले कर दिन-रात परेशान हैं। परेशानी का एक कारण यह भी है कि इन्हें महामारी के समय अब कहीं और नौकरी मिलना भी मुश्किल है।

साहिबबाद प्लाण्ट बन्द करने का असल कारण जमीन का मसला है। कम्पनी जमीन बेचने के लिए बहाने के तौर पर घाटे का रोना रो रही है। एटलस का यह मामला राष्ट्रीय कम्पनी कानून न्यायाधिकरण (एनसीएलटी) में चल रहा है। एनसीएलटी अपना फैसला सुनाती, उससे पहले ही कम्पनी मैनेजमेण्ट ने नाटकीय तरीके से कम्पनी के गेट पर तालाबन्दी का नोटिस रातों-रात चास्पा कर दिया जाता है। वह भी विश्व साइकिल दिवस के अवसर पर। सबकी नजरों में आने के लिए। यह दिन एटलस के मैनेजमेण्ट ने जान-बूझकर चुना था। क्या यह अब भी अबूझ पहेली है कि एटलस मैनेजमेण्ट क्या चाहता है? कम्पनी का यह खेल मजदूरों को समझ जाना चाहिए और सतर्क रहते हुए एकजुटता कायम कर संघर्ष चलाना चाहिए।

तालाबन्दी एनसीएलटी पर दबाव बनाने के लिए किया गया है। जमीन न बिकने पर भी कम्पनी को फायदा ही है। साहिबाबाद के प्लाण्ट को कम्पनी जमीन बेचकर खोलने की बात कर रही है। अगर जमीन बेचने की अनुमति नहीं मिलती है, तो प्लाण्ट तो पहले से ही बन्द है। इससे उसका कुछ नुकसान भी नहीं होगा। अगर एनसीएलटी दबाव में जमीन बेचने की अनुमति दे देता है तो कम्पनी की पाँचों उँगलियाँ घी में होंगी।

कारण यह कि आज के परजीवी पूँजीवाद के दौर में उत्पादक इकाइयाँ से कहीं ज्यादा कमाई रीयल स्टेट और सट्टेबाजी के धन्धे में हैं। दूसरे, विदेशों से आयातित साइकिलों को बेचकर खुद उत्पादन करने से ज्यादा मुनाफा कमाया जा सकता है।

-- अनुराग मौर्या

इजराइल-अरब समझौता : डायन और भूत का गठबन्धन

13 अगस्त 2020 को इजराइल और संयुक्त अरब अमीरात (यूएई) ने एक शान्ति समझौते पर हस्ताक्षर किया। मिस्र और जॉर्डन के बाद यह तीसरा ऐसा देश है जो औपचारिक रूप से इजराइल के साथ अपने राजनयिक रिश्ते कायम करने के लिए तैयार हो गया है। यूएई ऐसा करने वाला अरब जगत का पहला देश है। इस समझौते में इजराइल, फिलिस्तीन के वेस्ट बैंक के भूभाग कब्जाने की योजनाओं को टालने पर सहमत हो गया। ऐसा करके इजराइल ट्रम्प की मंशा को ही पूरी कर रहा है। बदले में यूएई अपने यहाँ इजराइल को पूँजी निवेश करने की छूट देगा।

इजराइली प्रधानमंत्री नेतन्याहू अमरीका की कठपुतली है और इसके बदले में अमरीका उसे सत्ता में बने रहने में मदद करता है। नहीं तो पूर्ण बहुमत न होने के बावजूद वह अपनी कुर्सी पर काबिज कैसे रहता? नेतन्याहू पर चुनाव में धाँधली करने के आरोप हैं और इजराइली जनता बड़ी संख्या में एकजुट होकर लगातार विरोध कर रही है, लेकिन वह बेखौफ हो अमरीकी एजेण्डे का विस्तार कर रहा है। इसलिए अमरीका इजराइल की वेस्ट बैंक वाली योजना पर साथ देता आया है।

यूएई के विदेश मंत्री अनवर गर्गश ने इस समझौते के बारे में कहा कि उनका देश इजराइल और फिलिस्तीन के बीच विवाद के समाधान के लिए आगे आना चाहता है। अमरीकी राष्ट्रपति डोनाल्ड ट्रम्प और इजराइल के प्रधानमंत्री बेंजामिन नेतन्याहू ने अपने साझे बयान में कहा कि इजराइल और संयुक्त अरब अमीरात अपने राजनयिक रिश्तों को पूरी तरह से सामान्य करेंगे। वे एक दूसरे के यहाँ दूतावास खोलेंगे और राजदूत भेजेंगे और जल्द ही पर्यटन, शिक्षा, स्वास्थ्य सेवा, व्यापार और सुरक्षा में एक दूसरे का सहयोग शुरू करेंगे।

1971 में, जब यूएई एक स्वतंत्र इस्लामिक देश बना था, तब उसके पहले राष्ट्रपति शेख जायद बिन सुल्तान अल नाहयान ने इजरायल को अपने 'दुश्मन' की संज्ञा दी थी। तब से अब तक दोनों देशों के बीच सम्बन्ध सामान्य नहीं हैं। यूएई और इजराइल दोनों देश अमरीका के पिछलग्गू हैं। अमरीका दोनों देशों के माध्यम से अरब जगत में अपनी पकड़ और मजबूत करने की योजना के तहत अपने कदम आगे बढ़ा रहा है। यह समझौता केवल इन दोनों देशों के बीच ही नहीं हुआ है, बल्कि इसके पीछे अमरीका का मकसद अरब जगत पर अपनी राजनीतिक पकड़ मजबूत करना है।

अरब जगत के ज्यादातर देश अमरीका की नवउदारवादी नीति के दबाव के आगे झुकने को तैयार नहीं हैं या यूँ कहें कि अमरीका जिस तरह का राजनीतिक और आर्थिक हस्तक्षेप अरब देशों में चाहता है, वह मुकम्मल नहीं हो पा रहा है। तेल के दाम तय करने से लेकर सरकार बनवाने तक में उसकी भूमिका लगातार कम हो रही है। पहले ईरान और अब तुर्की तथा इराक भी अमरीका के हाथ से फिसलते जा रहे हैं। अरब जगत में अपनी शक्ति कम होते देख अमरीका फिर से नये दाँव खेलकर इलाके में अपनी स्थिति मजबूत करना चाहता है।

1990 में खाड़ी युद्ध में अमरीका ने यूएई में अपना हवाई अड्डा बनाया था जिससे अमरीका को इराक के खिलाफ युद्ध जीतने में मदद मिली। उस वक्त यूएई ने अरब जगत के खिलाफ जाकर अमरीका की मदद की थी। इराक युद्ध में लाखों लोग बेघर हो गये। दवाइयों की कमी से 4 लाख बच्चों की मौत हो गयी। इराक के लिए वह ऐसा सदमा था जिससे वह अभी तक उबर नहीं पाया है।

1948 में अमरीका ने यूरोप से यहूदियों को लाकर, अरब में इस्लामिक राष्ट्रों के बीच फिलिस्तीन की धरती पर एक यहूदी राष्ट्र बसाया। इसके बाद पूरे अरब जगत पर निगरानी करना अमरीका के लिए बेहद आसान हो गया और इजराइल एक ऐसा ठिकाना बना, जहाँ उसने अपना सैन्य अड्डा बनाया। इसके दम पर वह पूरे अरब जगत में धौंसपट्टी जमाता है।

आज ईरान और सऊदी अरब के बीच टकराव में यूएई सऊदी अरब के साथ है क्योंकि सऊदी अरब के पीछे अमरीका खड़ा है। अमरीका चाहता है कि जिस तरह से सऊदी अरब और यूएई में उसका राजनीतिक, आर्थिक हस्तक्षेप है, उसी तरह ईरान भी अमरीका की बात मान ले और उसी की तरह अमरीका के आदेश पर किसी भी देश को तेल देना बन्द कर दे। ईरान को कमजोर करने के लिए अमरीका, यूएई, संयुक्त अरब अमीरात गठबन्धन पहले से ही मौजूद है और अब इजराइल भी इसमें शामिल हो गया है।

यूएई आर्थिक परेशानियों से जूझ रहा है। उसका तेल घाटा 2012 से 2020 तक गिरकर दो तिहाई रह गया। राजस्व घटकर 30 हजार करोड़ तक पहुँच गया। यूएई सरकार अपने आर्थिक संकट से उबरने के लिए नये समझौते के अनुसार उद्योगों को स्थापित करने के लिए फ्री जोन एरिया उपलब्ध करायेगा। इस पर इजराइल का मालिकाना हक होगा, यूएई उसमें हस्तक्षेप नहीं करेगा।

यूएई ने इजराइल के साथ समझौता करके पूरे अरब जगत में अपनी साख खो दी है। सऊदी अरब को छोड़कर अरब जगत के ज्यादातर देश इजराइल के खिलाफ तो पहले से ही थे, लेकिन इस समझौते के बाद अब यूएई के खिलाफ होकर उसके इस कदम का विरोध कर रहे हैं। इजराइल के खिलाफ जारी फिलिस्तीनी प्रतिरोध युद्ध में अब तक अरब की जनता ने फिलिस्तीन का साथ दिया, लेकिन भला वह अब इजराइल का साथ कैसे दे सकती है? यूएई का युवराज अभी भी यह कहकर लोगों को गुमराह कर रहा है कि उसका देश फिलिस्तीन के साथ आज भी खड़ा है। लेकिन यूएई के लोग बेवकूफ नहीं हैं, समझौते के पीछे की हकीकत को बखूबी समझ कर ही विरोध कर रहे हैं।

-- रन्नी तोमर

क्या है जो सभी मेहनतकशों में एक समान है?

-- चूक चर्चिल

सभी मेहनतकश लोगों में कौन-सी चीज समान है, भले ही उनके तथाकथित नस्ल या चमड़ी के रंग अलग-अलग हों? एक ऐसी राजनीतिक और आर्थिक व्यवस्था के वर्चस्व के मातहत उनका एक अनिश्चित अस्तित्व, जहाँ सारी सत्ता राष्ट्र के (और दुनिया के) मुट्ठीभर लोगों-- बड़े बैंकर और कॉर्पोरेट मालिक वर्ग के हाथों में संकेन्द्रित है। यह बड़े पूँजीपतियों का एक प्रतिशत है, जिन्होंने दुनिया के मजदूर वर्ग के श्रम से निर्मित धन का बहुत बड़ा हिस्सा संचित किया है। यहाँ तक कि हमारे शासक खुद अपने ही वॉल स्ट्रीट जर्नल और न्यू यॉर्क टाइम्स जैसे तमाम समाचार पत्रों में भी पूरी दुनिया में साफ तौर पर दिखने वाली इस सच्चाई को नकारने में असमर्थ रहे हैं। एक प्रतिशत का शासन!!

कैसे वे इस संकेन्द्रित शक्ति के जरिये इतने लम्बे समय तक अपनी व्यवस्था की विफलताओं का सामना करने में कामयाब रहे हैं जिन्होंने ऐसे लाखों लोगों को जिन्दगी, स्वतंत्रता और जीवित रहने के साधनों से वंचित किया जो बहुत कम खुशी हासिल कर पाते हैं। इसका उत्तर यह है कि उन्होंने मीडिया के मालिकाने पर कब्जा करके बड़े पैमाने पर मीडिया को और दो प्रमुख राजनीतिक दलों को नियंत्रित किया। साथ ही, ट्रेड यूनियनों से शुरू करते हुए, न सिर्फ श्रमिक वर्ग के किसी भी स्वतंत्र केन्द्र को, बल्कि लगातार हमलों के जरिये उन वैकल्पिक राजनीतिक विचारों और रणनीतियों को जो श्रमिकों को एकजुट करने की कोशिश करती हैं, जैसे-- समाजवाद, साम्यवाद, यहाँ तक कि लोकतंत्र की एक समझ भी जिसमें आर्थिक के साथ-साथ सामाजिक विकास भी शामिल है, उन सबको कमजोर करने और नष्ट करने के लिए दिन-रात काम किया। इसके अलावा, ऐतिहासिक रूप से, हमारे शासकों ने मजदूरों के बीच विभाजन को बढ़ावा दिया है।

लब्बोलुआब यह कि पूँजी के शासन के तहत, मजदूर और उनके परिवार न तो रोजगार पैदा करते हैं और न ही उन्हें छीनते हैं। पूँजीपति मालिक ही ऐसा करते हैं। फिर भी वे अपनी व्यवस्था की विफलताओं की कोई भी जिम्मेदारी अपने ऊपर नहीं लेते हैं, जिनकी वजह से लाखों लोग बिना रोजगार के, बिना घर के, बिना इलाज और देखभाल के, यहाँ तक कि बिना पर्याप्त भोजन के छोड़ दिये जाते हैं! और जब भी मजदूरों ने इसके खिलाफ संगठित होने की कोशिश की, तो वे पुलिस और कभी-कभी सैनिक हिंसा से उनका मुकाबला करते हैं। आप आज भी शिकागो पुलिस द्वारा रिपब्लिक स्टील के हड़ताली मजदूरों (जिनमें सभी गोरे थे) पर पीछे से गोली चलाये जाने वाली फिल्म देख सकते हैं जब वे महामन्दी के दिनों में हड़ताल के दौरान पुलिस की हिंसा से भागने की कोशिश कर रहे थे। और हमारे इतिहास में इस तरह के कई-कई उदाहरण मौजूद हैं। अपनी स्थापना के बाद से पुलिस वास्तव में "असमानता का प्रबन्धन करने और यथास्थिति को बनाये रखने का एक उपकरण" रही है। एलेक्स एस विटाले ने पुलिस के इतिहास पर अपनी महत्त्वपूर्ण किताब, "द एण्ड ऑफ पोलिसिंग" में इस अन्तर्दृष्टि को विकसित किया है। (यह किताब वर्सो प्रकाशन से मुफ्त में उपलब्ध है)।

और हमारे शासक बहुत ही चतुर और कुटिल रहे हैं। औपनिवेशिक काल में मजदूरों को एकजुट होने और मालिक वर्ग की आर्थिक और राज्य शक्ति के खिलाफ उन्हें अपनी संख्या का इस्तेमाल करने से रोकने के लिए वे सभी तरह के हथकण्डे अपनाते थे। नस्लवाद, जो कि अमरीका के मूल निवासियों के विनाश को और अफ्रीकियों की गुलामी को तर्कसंगत बनाने के लिए उनको किसी तरह "हीन" साबित करने और इसलिए उनके साथ क्रूरतापूर्ण व्यवहार करने और कभी-कभी नरसंहार और हमेशा अति-शोषक के योग्य चिन्हित करने की कोशिश करना सदियों से हमारे अमीर शासक वर्ग का लगातार उपयोगी हथियार बना रहा। वे इस देश के कुछ कम जागरुक गोरे मजदूरों के दिमाग में इस नस्लवाद को भरने में बहुत हद तक सफल हुए हैं, लेकिन हो सकता है कि वे पुराने दिन "ब्लैक लाइव्स मैटर" आन्दोलन के साथ अपने अन्त की ओर बढ़े-- बशर्ते यह आन्दोलन हर सम्भव रूप-रंग वाले सभी मजदूरों को एक साथ लाने की जरूरत पर ध्यान केन्द्रित कर पाये।

हम सभी के सामने लड़ने के लिए कुछ मुद्दे हैं। यदि हम दूसरों के अधिकारों के लिए नहीं खड़े होते हैं तो हम अपने खुद के अधिकारों को बचाने की उम्मीद नहीं कर सकते। हमें इस पूँजीवादी व्यवस्था का लेखाजोखा लेना होगा! इसने भारी संख्या में जनता को अपने जीवन पर नियंत्रण के बाहर छोड़ दिया है और खुद एक विकट अनिश्चित भविष्य का सामना कर रहा है। हम सभी को समुचित मजदूरी वाले स्थायी रोजगार की जरूरत है जो भोजन और आवास मुहैया करने के लिए पर्याप्त हो। एक मानव अधिकार के रूप में सभी के लिए स्वास्थ्य देखभाल की गारण्टी होना जरूरी है। बिना किसी बाधा के, एक शैक्षिक प्रणाली तक हम सभी की पहुँच होनी चाहिए जो हमें सिखाये कि हमें एकजुट रहने के लिए क्या जानना

शेष पेज 53 पर...

अतीत और वर्तमान में महामारियों ने बड़े निगमों के उदय को कैसे बढ़ावा दिया है?

-- इलीनोर रसेल, मार्टिन पार्कर

जून 1348 में, इग्लैण्ड में लोगों ने रहस्यमयी स्वास्थ्य समस्याओं के बारे में शिकायत कीं। उन्होंने सिरदर्द, बदन दर्द, और जी मिचलाने जैसे हलके और अस्पष्ट बीमारी के लक्षणों को महसूस किया। इसके बाद दर्दनाक काले रंग की गाँठ कमर और बगल में निकल आयी, जिसकी वजह से इस बीमारी का नाम पड़ा-- ब्यूबोनिक प्लेग। इसके अन्तिम चरण में तेज बुखार आता था और फिर मरीज की मौत हो जाती थी।

मध्य एशिया में पैदा होने वाला ब्यूबोनिक प्लेग सैनिकों और राहगीरों के जरिये काले सागर के बन्दरगाहों पर आया। येरसिना पेस्टिस, जीवाणु चूहों पर रहने वाली मक्खियों से फैला जो इस प्लेग की वजह होता है। भूमध्य सागर की अत्यधिक व्यावसायिक दुनिया ने व्यापारी जहाजों के जरिये पहले इटली और फिर पूरे यूरोप में प्लेग के तेजी से फैलने को सुनिश्चित किया। प्लेग ने यूरोप और आसपास के पूर्वी इलाके की एक तिहाई से लेकर आधी आबादी को मौत के मुँह में धकेल दिया।

इतनी बड़ी संख्या में मौत के साथ आर्थिक तबाही भी आयी। एक तिहाई श्रमशक्ति के मर जाने से फसलों की कटाई नहीं हो सकी और जन समुदाय बिखर गये। इग्लैण्ड (टस्कैनी और अन्य इलाकों के भी) के दस गाँवों में से एक लुप्त हो गया था और फिर कभी दोबारा स्थापित नहीं हुआ। मकान ढह गये, घास और मिट्टी ने उन्हें ढक लिया। केवल चर्च बचे रह गये। यदि आप कभी किसी वीरान इलाके में एक चर्च या चैपल देखते हैं, तो शायद आप यूरोप के लुप्त हुए गाँव में से किसी एक के अन्तिम अवशेष को देख रहे होते हैं।

प्लेग जैसी काली मौत के इस दर्दनाक अनुभव, जिसने सम्भवतः इसकी चपेट में आने वालों में से अस्सी प्रतिशत को मार दिया, इस घटना ने बहुत लोगों को लिखने के लिए प्रोत्साहित किया कि आखिर वे जिन्दा कैसे बच गये। एबरडीन में, कालक्रम का लेखा जोखा रखने वाले विद्वान जॉन ऑफ फार्डन ने लिखा कि इस बीमारी ने हर जगह विपत्ति ढा दी, लेकिन विशेष रूप से मध्यम और निम्न वर्ग के ऊपर बहुत अधिक विपत्ति आन पड़ी। इसने ऐसी दहशत पैदा की कि बच्चे अपने मरने वाले माता-पिता से और माता-पिता अपने मरने वाले बच्चों से मिलने की हिम्मत नहीं जुटा पाये। बल्कि छूत के डर से ऐसे भागे जैसे कुष्ठरोग या साँप के डर से भागते हैं।

लगभग यही पंक्तियाँ आज कोविड-19 की महामारी के लिए भी लिखी जा सकती हैं।

हालाँकि कोविड-19 से मृत्यु दर काली मौत की तुलना में बहुत कम है। वह तो आधुनिक अर्थव्यवस्थाओं के वैश्विक और अत्यधिक एकीकृत प्रकृति के चलते आर्थिक नुकसान भयावह हो रहे हैं। आज की आबादी भी बहुत ज्यादा घुमन्तू है जिसके चलते कोरोना वायरस को फैलने में प्लेग की तरह सालों नहीं लगे, बल्कि कुछ महीनों में वह दुनिया भर में फैल गया।

काली मौत की वजह से बहुत कम समय के लिए आर्थिक नुकसान उठाना पड़ा, जबकि लम्बी अवधि के लिए परिणाम कम स्पष्ट थे। जब तमाम भूदास और मुक्त किसानों की मौत हो गयी तो प्लेग के विस्फोट से पहले कई शताब्दियों की जनसंख्या वृद्धि ने जिस श्रम अधिशेष को पैदा किया था, वह अचानक श्रम की कमी में बदल गया था। इतिहासकारों का मत है कि इस श्रम शक्ति की कमी ने महामारी से बच गये किसानों को बेहतर वेतन की माँग करने या रोजगार की तलाश करने का अवसर दिया। इसके चलते महामारी के बाद सम्पत्ति का बँटवारा अधिक समानतापूर्ण हो गया सरकार के प्रतिरोध के बावजूद भूदास प्रथा और सामन्ती व्यवस्था अन्तिम तौर पर खुद ही क्षरित हो गयी।

लेकिन काली मौत के परिणामस्वरूप एक और काम हुआ जिसे अक्सर कम करके आँका जाता है, धनी उद्यमियों और व्यापार के साथ सरकार के रिश्तों का उदय। यह स्पष्ट है कि 1350 से 1500 के बीच हुए सारे विकास को काली मौत के साथ जोड़कर नहीं देखा जा सकता। लेकिन यह उन तमाम पहलुओं में से एक था जिसने नये तरह के उद्यम सम्बन्धी व्यवहार को जन्म दिया। हालाँकि काली मौत की वजह से यूरोप की सबसे बड़ी कम्पनियों को कुछ दिनों के लिए नुकसान हुआ, लेकिन दूरगामी तौर पर उन्होंने अपनी सम्पत्ति को संकेन्द्रित कर लिया, बाजार में हिस्सेदारी बढ़ा ली और सरकार पर प्रभाव भी बढ़ा लिया। दुनिया भर के कई देशों में मौजूदा हालात के साथ इसकी समानताएँ हैं। छोटी कम्पनियाँ खुद को तबाह होने से रोकने के लिए सरकारी सहायता पर निर्भर रहती हैं, जबकि कई दूसरी-- मुख्य रूप से होम डिलीवरी में शामिल बड़ी कम्पनियाँ नयी व्यापारिक दशाओं से बढ़िया मुनाफा कमा रही हैं।

ठीक-ठीक तुलना करने के लिए चौदहवीं शताब्दी के मध्य की अर्थव्यवस्था आधुनिक बाजार के आकार, गति और अन्तरसम्बन्धों

से कोसों दूर थीं। लेकिन हम काली मौत के समय की तुलना में निश्चित रूप से कुछ समानताएँ देख सकते हैं-- काली मौत ने राज्य की ताकत बढ़ायी और मुठ्ठीभर बड़े निगमों का प्रमुख बाजारों पर वर्चस्व बढ़ गया।

काली मौत का कारोबार

यूरोप की आबादी के कम से कम एक तिहाई के अचानक नुकसान हो जाने से ऐसा नहीं हुआ कि धन सम्पदा का बचे हुए लोगों में पुनर्वितरण हो गया हो। इसके बजाय तबाही की प्रतिक्रया में लोगों ने पैसे अपने परिवार के पास ही रखे। विल्स सबसे विशिष्ट और धनी व्यापारी बन गये। यह सुनिश्चित करने के लिए कि उनकी पैतृक सम्पत्ति उनकी मौत के बाद बँट न जाये, उन्होंने अपनी सम्पत्ति के एक तिहाई को दान में देने की परम्परा को बदलने के लिए जान लगा दी। कम से कम हाथों में संकेन्द्रित पूँजी का लाभ उनके वंशजों ने लगातार उठाया।

उसी समय किसानों के लिए बेहतर मजदूरी की शर्तों की वजह से सामन्तवाद के पतन और वेतन आधारित अर्थव्यवस्था के उदय ने शहरी कुलीनों को लाभान्वित किया। किसी की दयालुता (जैसे जलावन की लकड़ी जुटाने का अधिकार देने) के बजाय नगद मजदूरी भुगतान किया जाने लगा। जिसका मतलब था किसानों के पास शहरों में खर्च करने के लिए ज्यादा पैसा हो गया।

धन के इस संकेन्द्रण ने पहले से चले आ रहे तौर-तरीके को बढ़ावा दिया, यानी उन व्यापारी उद्यमियों के उदय को प्रोत्साहित किया जिन्होंने वस्तुओं के व्यापार और अपने उत्पादन को बड़े पैमाने पर पूँजी के साथ जोड़ दिया। उदाहरण के लिए रेशम, जिसे कभी एशिया और बैजन्तिया (इस्ताम्बुल) से आयात किया जाता था, अब यूरोप में उत्पादित किया जा रहा था। इटली के धनी व्यापारियों ने रेशम और वस्त्र की कार्यशालाएँ खोलना शुरू कर दिया।

काली मौत की वजह से हुई श्रम की भरपाई के लिए इन उद्यमियों ने विशेष रूप से स्थिति सम्भाल ली। स्वतंत्र बुनकर के बजाय, जिनके पास पूँजी की कमी थी, और अभिजात वर्ग के बजाय जिनका धन जमीन के रूप में बन्धक था, शहर के उद्यमी नयी तकनीक में निवेश करने के लिए अपनी जमा पूँजी का उपयोग करने में सक्षम थे। इस तरह से मशीनों से श्रम बल की कमी के नुकसान की भरपाई की गयी।

दक्षिणी जर्मनी में, जो चौदहवीं और पन्द्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में यूरोप का सबसे अधिक व्यावसायिक क्षेत्रों में से एक बन गया था, वेलसर जैसी कम्पनियों (जो बाद में वेनेजुएला को एक निजी उपनिवेश के तौर पर चलाती थी) ने बढ़ते पटसन को अपने मालिकाने वाले करघों से जोड़ दिया, जिन पर श्रमिक पटसन से कपड़े की चादर बनाते थे, जिसे बाद में वेल्सर कम्पनी बेच देती थी। काली मौत के बाद के दौर में चौदहवीं और पन्द्रहवीं शताब्दी में संसाधनों के संकेन्द्रण का रुझान था-- पूँजी, कौशल और इंफ्रास्ट्रक्चर का बहुत थोड़ी सी बड़ी कम्पनियों के हाथ में संकेन्द्रण होता जा रहा था।

अमेजन का दौर

प्लेग महामारी के समय से आज के दौर की कुछ स्पष्ट समानताएँ हैं। कुछ बड़े संगठनों ने कोविड-19 की वजह से पैदा हुए अवसरों की ओर कदम बढ़ाया है। दुनिया भर के कई देशों में छोटे रेस्तराँ, पब और दुकानों का पूरा तंत्र अचानक ठप हो गया है। भोजन, सामान्य खुदरा और मनोरंजन सब के लिए बाजार ऑनलाइन हो गया है, और नकद लेन-देन ज्यादातर गायब हो गया है।

रेस्तराँ द्वारा उपलब्ध करायी जाने वाली कैलोरी की मात्रा को सुपर मार्केट के माध्यम वितरित किया जाना था, इस आपूर्ति का अधिकांश हिस्सा अब सुपरमार्केट चेन द्वारा जोड़ लिया गया है। उनके पास बहुत अधिक सम्पत्ति और बहुत सारे कर्मचारी हैं। उनकी मानव संसाधन क्षमता भी ज्यादा है, भर्ती करने की क्षमता भी ज्यादा है और तमाम बेरोजगार लोग हैं जो अब नौकरी चाहते हैं। उनके पास गोदाम, ट्रक और चुस्त-दुरुस्त रसद क्षमता भी है।

बड़ी विजेता कम्पनियाँ ऑनलाइन रिटेल की दूसरी विराट खिलाड़ी हैं-- जैसे कि अमेजन जो अमरीका, भारत और कई यूरोपीय देशों में "प्राइम पेण्ट्री" सेवा चलाता है। वर्षों से सड़क किनारे की दुकानें इण्टरनेट बाजार से कीमत और सुविधा सम्बन्धी प्रतियोगिता से परेशान हैं और उनके दिवालिया होने की लगातार खबर है। अब ज्यादातर "गैर जरूरी" खुदरा बाजार बन्द हो गये हैं और हमारी जरूरतों की आपूर्ति अमेजन, ईबे, आरगोस, स्क्रू फिक्स और अन्य ऑनलाइन कम्पनियों के जरिये होने लगी। ऑनलाइन शॉपिंग में स्पष्ट रूप से बढ़ोत्तरी हुई है और खुदरा विश्लेषक अचरज में हैं कि क्या यह आभासी दुनिया और फिर से बड़े निगमों के प्रभुत्व की ओर एक निर्णायक कदम है।

अपने पार्सल के लिए घर पर इन्तजार करते समय हमारा ध्यान भटकाने के लिए दिन-रात सक्रिय मनोरंजन उद्योग है-- यह बाजार का वह क्षेत्र है जिसमें नेटफ्लिक्स, अमेजन प्राइम, डिजनी और दूसरे बड़े निगमों का वर्चस्व है। अन्य ऑनलाइन दिग्गज जैसे कि गूगल (जो यूट्यूब का मालिक है), फेसबुक (जो इंस्टाग्राम का मालिक है) और ट्विटर दूसरे प्लेटफार्म उपलब्ध कराकर ऑनलाइन ट्रैफिक को नियंत्रित करते हैं।

इस पूरी शृंखला की अन्तिम कड़ी खुद वितरण कम्पनियाँ हैं-- जिनमें यूपीएस, फेडेक्स, अमेजन लॉजिस्टिक्स (फिर वही) के साथ-साथ खाना वितरण करने वाली जस्ट ईट और डेलीवरू शामिल हैं। उनके व्यवसाय मॉडल अलग-अलग हैं पर उनके प्लेटफॉर्म अब सभी प्रकार के उत्पादों पर हावी हैं, चाहे आपका नया तोशिबा ब्राण्डेड, अमेजन फायर टीवी या आपका भरवा सामग्री वाला पिज्जा हट (यम! ब्राण्ड्स की सहायक कम्पनी जो केएफसी, टेको बेल और अन्य कम्पनियों की भी मालिक है)।

निगमों के वर्चस्व के दूसरे रुझान राज्य-समर्थित लेन-देन से सम्पर्क रहित भुगतान सेवाओं की तरफ बढ़ रहे हैं। यह स्पष्ट रूप

से ऑनलाइन बाजारीकरण का स्वाभाविक परिणाम है, लेकिन इसका मतलब यह भी है कि पैसा बड़े निगमों से होते हुए स्थानान्तरित हो रहा है, इसके लिए वे मुनाफे में अपना हिस्सा लेते हैं। वीजा और मास्टरकार्ड सबसे बड़े खिलाड़ी हैं। लेकिन एप्पल पे, पे-पाल, और अमेजन पे (फिर वही) सभी के लेन-देन में वृद्धि हो रही है। क्योंकि लोगों के पर्स (ऑनलाइन) में फिजूल नकदी पड़ी रहती है। और यदि नकद लेनदेन महामारी फैलाने वाला कारक माना जाता हो तो खुदरा विक्रेता नकद लेनदेन नहीं करेंगे और ग्राहक भी इसे इस्तेमाल नहीं करेंगे।

वास्तव में काली मौत की तरह कोविड-19 से भी छोटे व्यवसाय तमाम क्षेत्रों में बुरी तरह पिट गये हैं, जिसके परिणामस्वरुप बड़ी कम्पनियों की बाजार में हिस्सेदारी बढ़ रही है। यहाँ तक कि इस तरह की बातें लिखने के लिए भी घर से काम करने वाले स्काइप (माइक्रोसॉफ्ट के स्वामित्व में) जूम और ब्लूजीन पर काम कर रहे हैं, साथ ही ईमेल क्लाइण्ट और लैपटॉप का इस्तेमाल कर रहे हैं जो महज कुछ एक वैश्विक संस्थानों द्वारा बनाये गये हैं। अमीर लोग और अमीर हो रहे हैं जबकि आम लोग अपनी नौकरी से हाथ धो रहे हैं। अमेजन के सीईओ जेफ बेजोस ने इस वर्ष की शुरुआत से जून तक अपनी सम्पत्ति में पच्चीस अरब डॉलर की बढ़ोत्तरी कर ली है।

लेकिन कहानी यहीं पर खत्म नहीं हो जाती। कोरोना वायरस के चलते एक और बड़ा रुझान राज्य की शक्ति का मजबूत होना है।

महामारी का शासन

राज्य के स्तर पर काली मौत ने केन्द्रीकरण को बढ़ाया, टैक्स में बढ़ोत्तरी की और बड़ी कम्पनियों पर सरकार की निर्भरता के रुझान में बढ़ोत्तरी की।

इग्लैण्ड में जमीन की घटती कीमत और फलस्वरूप राजस्व में गिरावट ने शासक जो देश के सबसे बड़े भूस्वामी थे, उनको 1351 के अध्यादेश के जरिये प्लेग से पहले के स्तर पर मजदूरी और जनता पर अतिरिक्त कर लगाने के लिए प्रेरित किया। पहले सरकार से उम्मीद थी कि वह केवल युद्ध जैसे असाधारण खर्चों के लिए कर लगाएगी। प्लेग के बाद के करों ने अर्थव्यवस्था में सरकारी हस्तक्षेप की एक महत्त्वपूर्ण मिसाल कायम की।

इन सरकारी प्रयासों ने लोगों के रोजमर्रा के जीवन में शासक की दखलंदाजी में उल्लेखनीय बढ़ोत्तरी की। प्लेग के बाद के प्रकोपों में, जो हर बीस साल बाद होने लगे, कर्फ्यू, यात्रा प्रतिबन्ध और क्वेरेन्टीन के जरिये आवाजाही को नियंत्रित किया जाने लगा। यह राज्य शक्ति पुराने इलाकाई आधार पर बँटे नौकरशाही अधिकारों की जगह सामान्य केन्द्रीकरण स्थापित करने का हिस्सा था। प्लेग से पहले प्रशासनिक सेवाओं में लगे तमाम लोग-- जैसे कवि ज्योफ्रे चौसर, वह अंग्रेज व्यापारी परिवार से आये थे, जिनमें से कुछ एक ने महत्त्वपूर्ण राजनीतिक ताकत हासिल की।

इसका सबसे उत्कृष्ट उदाहरण डे ला पोल परिवार था, जो दो पीढ़ियों में भेड़ के ऊन के व्यापारी से सुफोल्क के झुमके के व्यापार तक पहुँच गया। काली मौत के बाद अन्तरराष्ट्रीय व्यापार और वित्तीय व्यवस्था के अस्थायी पतन के साथ ही रिचर्ड डी ला पोल राजा के लिए सबसे बड़ा ऋणदाता और रिचर्ड द्वितीय का अन्तरंग सम्बन्धी बन गया। जब चौदहवीं और पन्द्रहवीं शताब्दी के अन्त में इतालवी बड़ी कम्पनियाँ फिर से उभरीं तो उन्हें राजा की इन व्यापारी कम्पनियों पर बढ़ती निर्भरता का भी फायदा मिला। इसका सबसे महत्त्वपूर्ण उदाहरण है मेडिसी परिवार, जिसने अन्ततः फ्लोरेंस पर शासन किया।

व्यापारियों ने जमीन खरीदकर, जिसकी कीमत काली मौत के बाद गिर गयी थी, राजनीतिक प्रभाव हासिल किये। जमीन के मालिकाने ने व्यापारियों को जमीन पर आधारित शरीफजादों में या कहिये अभिजात वर्ग में शामिल होने का रास्ता साफ कर दिया। व्यापारियों ने अपने बच्चों की शादी धन की कमी से जूझ रहे राजा-महाराजाओं के बेटों और बेटियों से की। अपनी नयी हैसियत के हिसाब से और प्रभावशाली सगे-सम्बन्धियों की मदद से शहरी अभिजात वर्ग ने संसद में राजनीतिक प्रतिनिधित्व हासिल कर लिया।

चौदहवीं शताब्दी के अन्त तक सरकार के राज्य नियंत्रण और व्यापारी कम्पनियों के साथ रिचर्ड द्वितीय के सम्बन्धों ने उसके खिलाफ कई रईसों को खड़ा कर दिया। उन्होंने अपनी वफादारी रिचर्ड द्वितीय के भतीजे हेनरी चतुर्थ के लिए इस उम्मीद में शुरू कर दी कि वह रिचर्ड की नीतियों का अनुसरण नहीं करेगा।

यह और इसके बाद का गृह युद्ध आमतौर पर यार्किस्ट और लंकास्ट्रियंस के बीच टकराव के रूप में वर्णित किया गया जबकि वास्तव में यह कुलीनों द्वारा सरकार की ताकत के केन्द्रीकरण के विरोध से प्रेरित था। हेनरी ट्यूडर से रिचर्ड तृतीय की हार ने न केवल युद्ध को खत्म कर दिया बल्कि भविष्य में अंग्रेज धनाढ्यों द्वारा क्षेत्रीय प्राधिकरण और निगमों को फिर से हासिल करने के सभी रास्ते बन्द कर दिये। साथ ही निगमों और केन्द्र सरकार के निरन्तर उत्थान के लिए पथ प्रदर्शित किया।

जिस राज्य में हम हैं

राज्य की ताकत कुछ ऐसी चीज है जिसे हम इक्कीसवीं सदी में काफी हद तक मानकर चलते हैं। दुनिया भर में, पिछली कुछ सदियों से सम्प्रभु राष्ट्र का विचार शाही राजनीति और अर्थव्यवस्था का केन्द्र-बिन्दु रहा है।

लेकिन 1970 के दशक के बाद से, बुद्धिजीवियों के बीच यह सुझाव देना आम बात हो गयी है कि राज्य उतना महत्त्वपूर्ण नहीं था, इसलिए एक विशेष क्षेत्र के भीतर बहुराष्ट्रीय निगमों द्वारा नियंत्रण का एकाधिकार हथिया लिया गया है। 2016 में सबसे बड़ी 100 आर्थिक संस्थाओं में, 31 देश थे और 69 कम्पनियाँ थीं। वालमार्ट स्पेन की अर्थव्यवस्था से बड़ी थी और टोयटा भारत की अर्थव्यवस्था से भी बड़ी। राजनेताओं और नियामकों को प्रभावित

करने के लिए इन बड़ी कम्पनियों की क्षमता जग जाहिर है। उदाहरण के लिए जलवायु परिवर्तन से इनकार करने वाली तेल कम्पनियों के प्रभावों को याद करिये।

और 1979 से 1990 तक ब्रिटेन की प्रधानमंत्री रही मार्गरेट थैचर ने स्पष्ट किया कि वह "राज्य की खोयी हुई ताकत की वापसी" का इरादा रखती हैं। पहले राज्य की परिसम्पत्ति रही ज्यादातर चीजें आज कम्पनियों की तरह या राज्य द्वारा निर्मित आभासी बाजार के खिलाड़ी की तरह संचालित होती हैं। मोटे-तौर पर उदाहरण के लिए ब्रिटेन की राष्ट्रीय स्वास्थ्य सेवा का पच्चीस फीसदी हिस्सा निजी क्षेत्र के साथ अनुबन्ध के जरिये दिया जाता है।

दुनिया भर में परिवहन, सेवाएँ, दूरसंचार, दन्तचिकित्सक, नेत्र चिकित्सक, डाकघर और कई अन्य सेवाएँ राज्य का एकाधिकार हुआ करती थीं और अब मुनाफा कमाने वाली कम्पनियों द्वारा चलाई जाती हैं। राष्ट्रीयकृत या राज्य के स्वामित्व वाले उद्योगों को अक्सर काहिल कहा जाता है जबकि बाजार अनुशासन के हिसाब से इन सेवाओं के लिए ज्यादा आधुनिकता और दक्षता की माँग होती है।

लेकिन कोरोना वायरस की बदौलत राज्य की भूमिका फिर से सुनामी की तरह लौट आयी है। कुछ महीने पहले एक स्तर तक खर्च करने को जिसे "पैसे का जादुई पेड़" अर्थव्यवस्था कहकर मजाक उड़ाया जाता था (इंग्लैण्ड के प्रधानमंत्री ने कहा था कि हमारे पास कोई जादुई पेड़ नहीं है कि उसे हिला दें और सबको पैसे बाँट दें)। कुछ महीने पहले अर्थशास्त्री राष्ट्रीय स्वास्थ्य व्यवस्था, बेघर लोगों की समस्याओं को उठाने, लाखों लोगों के लिए सार्वभौमिक मूलभूत आय की व्यवस्था करने और कर्ज की गारण्टी लेने या बिजनेस मैन को सीधे भुगतान करने के काम पर निशाना साध रहे थे।

कीन्सवादी अर्थशास्त्र में व्यापक पैमाने पर करदाताओं से भविष्य में आय के आधार पर पैसे उधार लेने के लिए राष्ट्रीय बाण्ड का प्रयोग किया जाता है। बजट को संतुलित करने का विचार अब बीते दिनों की बात हो गयी है। अब सभी उद्योग राष्ट्रीय खजाने से मिलने वाले खैरात पर निर्भर हैं। दुनिया भर के राजनेता अचानक बिचौलिए बन गये हैं। अन्धाधुन्ध खर्च को सही ठहराने के लिए युद्ध काल के रूपक और अलंकारों का इस्तेमाल किया जा रहा है।

जिसकी ओर कम ध्यान दिया गया है-- वह है व्यक्तिगत आजादी पर आश्चर्यजनक प्रतिबन्ध। व्यक्ति की स्वायत्तता नवउदारवादी विचारों के केन्द्र में है। "आजादी पसन्द लोग" उन लोगों से अलग होते हैं जो किसी अत्याचारी जुए के अधीन जीते हैं। उन अत्याचारी राज्यों से भी जो अपने नागरिकों के व्यवहार पर निगरानी के लिए बिग ब्रदर की निगरानी शक्तियों का प्रयोग करते हैं।

फिर भी पिछले कुछ महीनों में, दुनिया भर की सरकारों ने जनता के व्यापक समूह की आवाजाही को प्रतिबन्धित किया है और सार्वजनिक और निजी स्थानों में इकट्ठा होने से रोकने के लिए पुलिस और सशस्त्र बालों का इस्तेमाल कर रही हैं। थियेटर, पब और रेस्तराँ को बन्द करने के आदेश हैं, पार्क बन्द कर दिये गये हैं और बेंचों पर बैठने पर जुर्माना लग सकता है। किसी के बहुत नजदीक जाने पर किसी दूसरे व्यक्ति द्वारा आपके ऊपर चिल्लाया जाएगा। एक मध्ययुगीन राजा इस तरह की तानाशाही से मंत्रमुग्ध हुए बिना नहीं रहता।

लगता है महामारी ने सरकारों को राजकोषीय और प्रशासनिक ताकतों का इस्तेमाल करके समझदारी और स्वतंत्रता के तर्क को कुचलने की अनुमति दे दी है। राज्य की ताकत का अब उन रूपों में प्रयोग किया जा रहा है जो दूसरे विश्व युद्ध के बाद से कहीं नहीं दिखे और ताज्जुब की बात यह है कि इसे व्यापक जनसमर्थन मिला है।

लोकप्रिय प्रतिरोध

काली मौत पर वापस लौटते हैं। व्यापारियों और बड़े व्यवसाय के धन और प्रभाव में वृद्धि ने उस समय मौजूद व्यापार विरोधी भावना को गम्भीर रूप से भड़काया। बौद्धिक और लोकप्रिय दोनों मध्ययुगीन विचारों के हिसाब से व्यापार नैतिक रूप से सन्देह के घेरे में था और व्यापारी, विशेष रूप से धनी व्यक्ति सन्दिग्ध थे। यूरोप के पापों के लिए ईश्वर की ओर से दी गयी सजा के रूप में काली मौत की व्यापक रूप से व्याख्या की गयी थी। और प्लेग महामारी के बाद कई लेखकों ने चर्च, सरकारों और धनी कम्पनियों को ईसाई जगत के नैतिक पतन के लिए दोषी ठहराया था।

विलियम लैंगलैण्ड की प्रसिद्ध प्रतिरोध कविता 'पियर्स प्लोमैन' पूरी तरह व्यापार विरोधी थी। दूसरी-पन्द्रहवीं शताब्दी के मध्य की कविता अंगेलसचे पोलीकाई के शब्द व्यापार के प्रति सहिष्णु थे लेकिन ये व्यापार को इटली के उन व्यापारियों के हाथों से छीनकर अंग्रेज व्यापारियों के हाथों में लाना चाहते थे जिनके बारे में लेखक ने कहा कि इन्होंने देश को कंगाल कर दिया है।

चौदहवीं और पन्द्रहवीं शताब्दियों में प्रगति हुई और निगमों ने बाजार के एक बड़े हिस्से को हासिल कर लिया, लोकप्रिय और बौद्धिक विरोधाभास भी बढ़े। लम्बे समय में इसका परिणाम भड़काने वाला था। सोलहवीं शताब्दी तक, निगमों के हाथ में व्यापार और वित्त का केन्द्रीकरण हो गया। थोड़ी सी कम्पनियों ने कुलीन और कैथोलिक बैंकिंग पर एकाधिकार कर लिया, जिसमें बहुत सी कम्पनियों का यूरोप की प्रमुख वस्तुओं पर एकाधिकार था, जैसे कि चाँदी, ताम्बा और पारा तथा विशेष रूप से एशिया और अमरीका से आयातित मसाले पर।

मार्टिन लूथर इस केन्द्रीकरण से, विशेष रूप से कैथोलिक चर्च द्वारा भोग-विलास के लिए एकाधिकारी फर्मों के उपयोग से चिढ़ा हुआ था। 1524 में लूथर ने एक निबन्ध प्रकाशित करवाया कि व्यापार सबके (जर्मन) भले के लिए होना चाहिए और व्यापारियों को ऊँची कीमतें नहीं वसूलनी चाहिए। अन्य प्रोटेस्टेण्ट लेखकों के साथ फिलिप मेलनेक्टहोन और उलरिच वान हट्टेन जैसे लेखकों की तत्कालीन व्यापार विरोधी भावना का इस्तेमाल लूथर ने सरकार के ऊपर व्यापार के वर्चस्व की आलोचना करने के लिए किया। उसने वित्तीय अन्याय को धार्मिक सुधारों के अपने

आह्वान के साथ जोड़ दिया।

समाजशास्त्री मैक्स वेबर ने पूँजीवाद के उदय और आधुनिक आर्थिक विचार को प्रोटेस्टेण्टवाद के साथ जोड़ने का बहुचर्चित काम किया। लेकिन शुरुआती प्रोटेस्टेण्ट लेखकों ने एकाधिकारी कम्पनियों और रोजमर्रा की जिन्दगी के व्यवसायीकरण का विरोध किया, जो व्यापार विरोधी भावना पर आधारित था, जिसकी जड़ें प्लेग में थीं। इस लोकप्रिय और धार्मिक खिलाफत ने अन्ततः रोम के साथ सम्बन्ध-विच्छेद और यूरोप के बदलाव को जन्म दिया।

क्या छोटा हमेशा सुन्दर होता है?

21 वीं सदी तक हम इस विचार के अभ्यस्त हो गये हैं कि पूँजीवादी कम्पनियाँ धन का संकेन्द्रण करती हैं। चाहे विक्टोरियन उद्योगपति हों, अमरीका के लुटेरे व्यापारी हों या डॉट-कॉम अरबपति हों, व्यापार और सरकारों पर उसके भ्रष्ट प्रभाव से पैदा हुई असमानताओं ने ही औद्योगिक क्रान्ति के बाद से व्यापार के विमर्श को आकार दिया। आलोचकों के लिए, बड़े व्यवसाय को अक्सर हृदयहीन कहा जाता है-- एक ऐसा विशाल जानवर जो अपने पैरों से आम लोगों को कुचल देता है, या मजदूर वर्ग से श्रम का मुनाफा निचोड़ता है।

जैसा कि हमने देखा, छोटे स्थानीय व्यवसायी और बड़े निगमों तथा राज्य की सत्ता के समर्थकों के बीच कई शताब्दियों से बहस चली आ रही है। रोमांटिक कवियों और सुधारवादियों ने इस तरह से दुःख प्रकट किया कि "काली शैतानी मिलें" ग्रामीण इलाकों को नष्ट कर रही थीं और उन लोगों को पैदा कर रहीं थीं जो मशीनों के पिछलग्गू के अलावा कुछ नहीं थे। यह विचार कि ईमानदार कारीगर को अलगावग्रस्त कर्मचारी द्वारा विस्थापित किया जा रहा था, जो एक उजरती गुलाम था, प्रारम्भिक पूँजीवाद के अतीतग्रस्त और प्रगतिशील दोनों तरह के आलोचकों में एक समान है।

छोटे और बड़े व्यापार के बीच कुछ बुनियादी अन्तर था, 1960 के दशक तक इस विचार ने अपने दीर्घकालिक तर्कों में पर्यावरणवाद को शामिल कर लिया। गगनचुम्बी इमारत में रहने वाला "द मैन" अधिक विश्वसनीय कारीगर के विपरीत था।

स्थानीय व्यापार में यह भरोसा निगमों में अविश्वास के साथ जुड़ गया और पर्यावरण, ऑक्युपाई वाल स्ट्रीट और एक्टिन्क्शन रिबेलियन आन्दोलन में राज्य बह गया। स्थानीय भोजन करना, स्थानीय धन का इस्तेमाल करना और अस्पताल और विश्वविद्यालयों जैसे- परोपकारी संस्थाओं की क्रयशक्ति को छोटे सामाजिक उद्यमों की ओर मोड़ देने की कोशिश बहुत सारे समकालीन आर्थिक कार्यकर्ताओं के लिए सामान्य बात बन गयी है।

लेकिन कोविड-19 संकट अगर छोटा है वह अच्छा है और बड़ा है वह बुरा है, इस विरोधाभास ने बहुत मौलिक सवाल खड़ा किया है। वायरस ने जिस तरह की तमाम समस्याएँ खड़ी की हैं उनसे पार पाने के लिए बड़े पैमाने पर संगठित होना जरूरी लगने लगा है। वे सरकारें ज्यादा सफल नजर आती हैं, जिन्होंने निगरानी और नियंत्रण के लिए सबसे ज्यादा हस्तक्षेपकारी तरीके अपनायी। यहाँ तक कि सबसे कट्टर पूँजीवाद विरोधी को भी यह स्वीकार करना होगा कि छोटे सामाजिक उद्यम कुछ हफ्तों में एक विशाल अस्पताल तैयार नहीं कर सकते हैं।

यहाँ तक कि खाद्य आपूर्ति में लगे स्थानीय व्यवसायियों के बहुत सारे उदाहरण हैं, और एक-दूसरे के मदद की सराहनीय कोशिशें हो रही हैं। पर धरती के उत्तरी गोलार्द्ध की आबादी को आमतौर पर सुपर मार्केट की बड़ी शृंखलाओं के जरिये संचालित जटिल रसद आपूर्ति से खिलाया-पिलाया जा रहा है।

कोरोना वायरस के बाद

दूरगामी तौर पर काली मौत से बड़े व्यवसाय और राज्य की ताकत को मजबूती मिली। कोरोना वायरस लॉकडाउन के दौरान बहुत तेजी से यही सब हो रहा है।

लेकिन, हमें आसान ऐतिहासिक सबक से सतर्क रहना चाहिए। इतिहास कभी भी खुद को दोहराता नहीं है। हर एक समय की परिस्थितियाँ अलग होती हैं, और सामान्य रूप से इस 'सबक' को इतिहास सम्मत मानना ठीक नहीं है जैसे कि यह कुछ सामान्य नियमों को स्थापित करने वाले प्रयोगों से पैदा हुआ हो। और कोविड-19 किसी भी आबादी के एक तिहाई हिस्से को नहीं मारेगा, इसलिए हालाँकि इसके प्रभाव गम्भीर हैं, लेकिन इनके परिणाम उसी तरह श्रम शक्ति को घटा देने के रूप में नहीं निकलेंगे। हुआ यह कि इससे काम देने वालों की ताकत वास्तव में बढ़ी है।

सबसे गम्भीर अन्तर यह है कि यह एक और संकट जलवायु परिवर्तन के बीच आया है। एक वास्तविक खतरा यह है कि विकास अर्थव्यवस्था की दुबारा उछाल की नीति कार्बन उत्सर्जन को कम करने की आवश्यकता को दबा देगी। यह बुरा सपना है, इस मामले में कोविड-19 ज्यादा ही बदतर है।

लेकिन व्यक्ति और सम्पत्ति की भारी लामबन्दी, जिन्हें सरकारों और निगमों ने तैनात किया है, यह भी दर्शाता है कि यदि वे चाहें तो बड़े संगठन स्वयं और दुनिया को असाधारण रूप से तेजी से पुनर्व्यवस्थित कर सकते हैं। यह ऊर्जा उत्पादन, परिवहन, खाद्य प्रणाली और ढेर सारी चीजों को फिर से योजना-बद्ध करने की हमारी सामूहिक क्षमता से सम्बन्धित आशावाद के लिए वास्तविक आधार प्रदान करता है। ग्रीन न्यूडील जिसे तमाम नीति निर्माता आर्थिक सहयोग दे रहे हैं।

लगता है कि काली मौत और कोविड-19 व्यापार और राज्य सत्ता दोनों के संकेन्द्रण और केन्द्रीकरण का कारण हैं। यह नोट करना दिलचस्प है। लेकिन सबसे बड़ा सवाल यह है कि क्या इन शक्तिशाली ताकतों को आने वाले संकटों के समय निशाना बनाया जा सकता है।

(द कनर्वसेशन डॉट कॉम से साभार)

अनुवाद-- राजेश कुमार

अमरीका और चीन-रूस टकराव के बीच भारत की स्थिति

-- विक्रम प्रताप

चीनी ग्लोबल अखबार टाइम्स अमरीका को 'कागजी वाध' नहीं मानता बल्कि उसे 'अल्फा-भेड़िया' मानता है। यह अखबार कहता है कि अमरीका बाघ नहीं है-- न तो असली और न ही कागजी, क्योंकि बाघ अकेले शिकार करता है। यह एक भेड़िया है क्योंकि भेड़िये हमेशा झुण्ड में शिकार करते हैं और अमरीका भेड़ियों का नेता (अल्फा-भेड़िया) है।

पिछले कुछ सालों से अमरीका और चीन के बीच सम्बन्ध लगातार खराब हुए हैं। अमरीकी राष्ट्रपति ट्रम्प और विदेश मंत्री माइक पोम्पियो ने चीन के खिलाफ लगातार भड़काऊ बयान दिये हैं। व्यापार युद्ध से दक्षिणी चीन सागर में दखलन्दाजी तक हर जगह अमरीका और चीन के बीच कोरोना महामारी के प्रसार ने इसे बहुत तेज कर दिया है। पेण्टागन की ताजा रिपोर्ट में चीनी सेना का वार्षिक आकलन किया गया है। उसके अनुसार विश्व स्तरीय सेना बनाने के लिए चीन पूरी दुनिया में संयुक्त अभियान चला सकता है और वह पहले से ही दुनिया की सबसे बड़ी नौसेना का दावा करता रहा है। अमरीका चीन के बढ़ते वैश्विक विस्तार और प्रभाव को किसी भी तरह से रोकना चाहता है लेकिन चीन के साथ उसके व्यापारिक हित भी गहराई तक जुड़े हुए हैं।

4 जुलाई, 2020 के बाद अमरीका ने दक्षिण चीन सागर में अपने दो विमान वाहक पोत रोनाल्ड रीगन और निमित्ज तैनात किये हैं, जो चीन की सीमा के अन्दर टोह में लगे हुए हैं और चीन पर दबाव बना रहे हैं।

भारत के सरकारी सूत्रों ने एएनआई न्यूज एजेंसी को बताया कि गालवान संघर्ष शुरू होने के तुरन्त बाद, जिसमें हमारे 20 सैनिक मारे गये थे, भारतीय नौसेना ने अपने मोर्चे के एक युद्धपोत को दक्षिण चीन सागर में तैनात कर दिया था, जबकि बहुत बड़े हिस्से पर चीन की पीपुल्स लिबरेशन आर्मी काबिज है। चीन ने भी इस तथ्य से इनकार नहीं किया है। चीन इस बात को नजरअन्दाज नहीं कर सकता कि भारत और अमरीका उसके प्रभाव क्षेत्र वाले सागर में अपने लडाकू पोत के साथ मौजूद रहें।

अमरीका कई सालों से इस इलाके में उकसावे का काम कर रहा है और आस-पास के देशों को चीन के खिलाफ लामबन्द करने की कोशिशों में लगा है।। चीन के खिलाफ जापान निर्णायक रूप से अमरीका के खेमें में शामिल होता प्रतीत हो रहा है। 9 जुलाई, 2020 को अमरीकी विदेश विभाग ने 63 एफ-35ए और 42 एफ-35बी सहित कुल 105 एफ-35 लड़ाकू विमान की जापान द्वारा खरीद की योजना को मंजूरी दे दी थी। ऐसा माना जा रहा है कि इन हथियारों को हासिल करके जापान एशिया-प्रशान्त क्षेत्र में चीन और रूस के दबाव का सामना कर सकेगा। अमरीका खुफिया तौर पर पूरे दक्षिण चीन सागर में अपनी रणनीति बनाने में लगा हुआ है। 11 जुलाई, 2020 को रूस ने इस इलाके में उड़ान भर रहे एक अमरीकी टोही जासूसी विमान को रोक लिया, जिसने जापानी समुद्री क्षेत्र से उड़ान भरी थी जो चीन की सीमा से लगते हैं और वह रूसी हवाई क्षेत्र की ओर बढ़ रहा था। इसी बीच अमरीकी चुनौती से निपटने के लिए चीन ने भी रूस के साथ संयुक्त रूप से काम करने की इच्छा जाहिर कर दी।

चीन ने भारत को आपूर्ति किये गये राफेल जेट का मुकाबला करने के लिए पाकिस्तान को अपने जे-31 लड़ाकू विमान की आपूर्ति का फैसला किया है। चीन का यह लड़ाकू विमान जे-31 अमरीका के एफ-35 और फ्रांस के राफेल की टक्कर का है। अमरीका ने चीन पर आरोप लगाया है कि उसने जे-31 में चोरी से अमरीकी तकनीक का इस्तेमाल किया है। जबकि रूसी मिग विमान डिजाइन ब्यूरो के प्रमुख व्लादिमीर बार्कोवस्की ने चीनी प्रयास की प्रशंसा की है।

चीन ने अमरीकी रक्षा कम्पनी लॉकहीड मार्टिन पर प्रतिबन्ध लगा दिया है जो ताइवान को अपनी एफ-16 लड़ाकू विमान बेच रही थी।

ऐसी खबरें हैं कि अमरीका ने भारत को अपने एफ-35 के लिए पेशकश की है, लेकिन उसकी शर्त है कि भारत सबसे पहले रूस के साथ अपने एस-400 रणनीतिक वायु-रक्षा प्रणाली के समझौते को रद्द कर दे। यह शर्त मानने से भारत इनकार कर चुका है।

अमरीका और चीन-रूस के बीच बढ़ते जा रहे टकराव में भारत दो पाटों के बीच फँस गया है। भारत लम्बे समय से चीन के खिलाफ दक्षिण चीन सागर के आस-पास अमरीका, ऑस्ट्रेलिया, जापान आदि के साथ नौसैनिक अभ्यास कर रहा है, जिससे भारत

और चीन के बीच अविश्वास बढ़ गया है। गलवान घाटी की घटना ने दरार को और ज्यादा चौड़ा करने का काम किया है। इसका फायदा उठाकर अमरीका अब भारत को अपने हिसाब से ब्लैकमेल करने की स्थिति में आ गया है। गलवान की घटना से भी पहले 7 अप्रैल, 2020 को कोविड-19 के प्रकोप के दौरान अमरीका ने भारत को हाइड्रोक्सीकोलोरोक्वीन की आपूर्ति के मुद्दे पर धमकी दी थी, जब भारत ने अमरीका को आपूर्ति करने में कुछ टालमटोल किया था। यह छोटी सी घटना स्पष्ट कर देती है कि भारत पर अमरीका कितना ज्यादा हावी है।

16 जुलाई, 2020 को भारत के प्रमुख सुरक्षा विशेषज्ञ सुमित गांगुली ने एक प्रमुख अमरीकी पत्रिका 'फॉरेन पोलिसी' में लिखा है कि अमरीका चाहता है कि चीन से लड़ने के लिए भारत को रूस के बारे में भूल जाना चाहिए। इससे पहले 15 जून, 2020 को गलवान घाटी हमले के तत्काल बाद, जिसमें भारत ने अपने 20 सैनिकों को खो दिया था, भारतीय रक्षा मंत्री राजनाथ सिंह ने मास्को का दौरा किया था और रूस से 2.4 अरब डालर के हथियारों का सौदा किया था। इससे पहले भारत पिछले साल 15 नवम्बर, 2019 को रूस के साथ एस-400 रणनीतिक वायु-रक्षा प्रणाली खरीदने का समझौता कर चुका था। भारत के लिए रूस से दूरी बनाना आसान नहीं है, अगर उसे रूस से कम कीमत और आसान शर्तों पर विश्वस्तरीय अस्त्र-शस्त्र हासिल करना है, क्योंकि ऐसे हथियार अमरीका से खरीदने के लिए भारत को उसकी कठिन शर्तों को स्वीकार करना पड़ता और इसके साथ-साथ अमरीकी कांग्रेस की जटिल प्रक्रिया का सामना करके और उसकी स्वीकार्यता हासिल करने के बाद ही हथियार अमरीका से बाहर जा पाते। इसके अलावा, भारत लगभग 50 वर्षों से सोवियत संघ के साथ बना हुआ है। हालाँकि सोवियत संघ के विघटन के बाद से रूस ने भारत की ओर अधिक रुचि नहीं ली, लेकिन अब फिर से रूस का झुकाव भारत की ओर बढ़ रहा है। पिछले कुछ महीनों में रूस ने अपनी ओर से पूरी कोशिश की कि भारत और चीन के बीच रिश्ता सामान्य हो जाये।

दक्षिण चीन सागर में अमरीका द्वारा सैन्य तैनाती और सैन्य अभ्यास भारत के लिए महत्त्वपूर्ण है। भारत ने निश्चित रूप से अमरीका से बहुत उम्मीद पाल रखी है, कभी-कभी उसे लगता है कि पाकिस्तान और चीन के साथ दो-तरफा युद्ध के खौफ से छुटकारा दिलाने में अमरीका उसकी मदद करेगा, लेकिन इसके विपरीत अमरीका के पूर्व सुरक्षा सलाहकार जॉन बोल्टन ने पहले ही भारत को चेतावनी दी है कि चीन के साथ युद्ध के मामले में ट्रम्प भारत का साथ नहीं देंगे। ऐसी स्थिति में अगर भारत ने रूस का साथ छोड़ने की गलती की तो यह भी स्पष्ट है कि रूस पूरी तरह से पाकिस्तान की ओर चला जाएगा जो भारत के लिए आत्मघाती होगा। चीन पहले से ही पाकिस्तान की मदद करता रहा है। इस तरह भारत के खिलाफ पकिस्तान, चीन और रूस जैसी ताकतों को देखते हुए मुमकिन है कि अमरीका भारत की कमजोर नस को दबाना शुरू करे तथा देश पर और अधिक अपमानजनक शर्तें भी थोप सकता है।

कितने और ल्हासा होंगे

कितने और ल्हासा होंगे
मैक्लॉड गंज की रिज पर
साथ बैठा एक रमण
बात करते-करते अचानक
बेचेन हो उठता है।।
अनखनें लगता है
दूर-दूर सीमाओं पार से
आती आवाजें
जो अक्सर यहाँ आती
जाती रहती हैं।।
जानना मुश्किल है
इसका मन इस वक्त
धर्म चक्र के व्रत में
घूम रहा है
या ल्हासा की गलियों में।।
कितने और ल्हासा होंगे
जहाँ रहने या न रहने
का अधिकार
वहाँ रहने वालों के पास नहीं होगा।।
जाने कितने भिक्खु
कहाँ-कहाँ से सुन रहे होंगे ये आवाजें।।
कितने रोहंगिया
कितने फिलिस्तीनी
कितने कश्मीरियों को।।
ये आवाजें सुनाई
पड़ती होंगी।।

--केशव तिवारी

अमरीका बनाम चीन : क्या यह एक नये शीत युद्ध की शुरुआत है

-- पैट्रिक विण्टौर

शीत युद्ध के बौद्धिक लेखक के रूप में विख्यात जॉर्ज केनन ने याद किया कि सोवियत खतरे की प्रकृति पर अगर उसने अपना तार छह महीने पहले भेजा होता तो उसके सन्देश पर "शायद विदेश मंत्रालय में होंठ भींच लिए जाते और भवें चढ़ जाती। छह महीने बाद, यह शायद एक निरर्थक और बेमतलब का उपदेश लगा होता।"

अब, कोरोनोवायरस महामारी को लेकर जब अमरीका चीन को घेर रहा है तो ऐसा लगता है जैसे दुनिया के बहुत से लोकतांत्रिक देश 1946 जैसी तेजी से ही विश्व व्यवस्था की एक नयी धारणा तक पहुँच रहे हैं। अमरीकी विदेश मंत्री माइक पोम्पिओ ने घोषणा की है कि चीनी कम्युनिस्ट पार्टी सुरक्षा के लिए सबसे बड़ा, अन्तर्राष्ट्रीय आतंकवाद से भी बड़ा खतरा है, और इस बात से सहमत देशों की संख्या बढ़ रही है।

जिन लोगों ने तर्क दिया कि आर्थिक रूप से उदार चीन एक राजनीतिक रूप से ज्यादा उदार चीन को जन्म देगा, उन्हें अब डर है कि उन्होंने खुद को इतिहास के गलत पक्ष में पाया है। ताइवान के हवाई क्षेत्र से लेकर हाँगकांग की गगनचुम्बी इमारतों तक, भारत के साथ लगती सीमा पर बर्फ से ढका हिमालय और दक्षिण चीन सागर में शीशा/पारसल द्वीपों के आसपास की चट्टानें चीनी दृढ़ता का एक पुनर्मूल्यांकन पेश कर रही हैं। ऑस्ट्रेलियाई सरकार के शुक्रवार के फैसले में देश पर हुए साइबर हमले को एक राज्य संचालित हमला कहना लेकिन चीन का नाम न लेना एक नयी मानसिकता का नवीनतम सबूत था।

अमरीका की माँग है कि इसके सहयोगी न केवल पिछली अनुभवहीनता को स्वीकार करें बल्कि इसके चीन विरोधी गठबन्धन में भी शामिल हों। चीन, शायद कम खुलेपन से देशों को अपने खेमे में शामिल होने के लिए तैयार कर रहा है।

कई देश बचने की कोशिश कर रहे हैं, लेकिन तटस्थता या गुटनिरपेक्षता की गुंजाइश कम होती जा रही है। उदाहरण के लिए भारत, जिसे अपने पूर्व राष्ट्रीय सुरक्षा सलाहकार शिवशंकर मेनन के अनुसार लम्बे समय से अपनी सामरिक स्वायत्तता पर गर्व है। यह गलवान घाटी में अपने सैनिकों के साथ चीनी सैनिकों द्वारा की गयी क्रूर हाथापाई के निहितार्थों से चकरा गया है। इस घटना को मेनन अपने दायरे और निहितार्थों के लिहाज से दो पड़ोसियों के बीच सम्बन्धों के लिए एक अभूतपूर्व कार्रवाई मानते हैं।

मेनन लम्बे समय से तर्क देते रहे हैं कि भारत को स्थायी गठजोड़ से बचना चाहिए। वे कहते हैं "निश्चित रूप से, भारत के लिए आदर्श स्थिति यह है कि चीन और अमरीका दोनों एक दूसरे के जितना करीब हैं, भारत को दोनों के उससे ज्यादा करीब रहना है।" लेकिन जैसे-जैसे बयानबाजी और खतरे बढ़ रहे हैं, इस तरह से चीन और अमरीका के बीच चलना किसी भी समय से ज्यादा कठिन होता जा रहा है। इसके बजाय ऐसा लगता है जैसे कि एक नये शीत युद्ध की आहट सुनायी दे रही है जो पारम्परिक हथियारों के बजाय प्रौद्योगिकी और तटकर के रूप में ज्यादा लड़ा जायेगा।

वास्तव में, अगले छह महीनों के लिए बड़ा सवाल यह है कि जो देश दुनिया को फिर से दो खेमों में बाँटने के विरोधी हैं उन्होंने किस हद तक इसका विरोध किया है, इस पर कितना कायम रहते हैं और जब दुनिया भर में आर्थिक सम्बन्ध इतने सघन हो गये हैं कि किसी देश से नाता तोड़ लेने की कीमत बहुत अधिक है तो क्या अमरीका की इच्छा के अनुसार नाता तोड़ा जा सकता है।

कुछ साल पहले बहुत से लोगों ने सोचा था कि ये अगले दशक के सवाल हो सकते हैं। बराक ओबामा के नेतृत्व में महाशक्तियों के बीच की प्रतिद्वंद्विता की आहट धीरे-धीरे सुनायी दे रही थी। लेकिन ट्रम्प प्रशासन के आगमन के साथ ही इसने एक नयी तात्कालिकता ग्रहण कर ली। डोनाल्ड ट्रम्प द्वारा त्याग दिये गये सलाहकारों में से एक, स्टीव बैनन के शब्दों में-- "ये दो व्यवस्थाएँ हैं जो असंगत हैं। एक पक्ष को जीतना है। दूसरे पक्ष को हारना है।" कोरोनोवायरस, एक महाउत्तेजक इस मुद्दे को उम्मीद से पहले सतह पर ले आया है।

एशिया रिसर्च इंस्टीट्यूट के एक शोधार्थी, किशोर महबूबानी

के अनुसार ट्रम्प ने इस युद्ध की तैयारी हड़बड़ी में की है। "मूलभूत समस्या यह है कि अमरीका ने दुनिया की सबसे पुरानी सभ्यता चीन के खिलाफ एक भूराजनीतिक टकराव शुरू करने का फैसला इस टकराव को चलाने की एक व्यापक रणनीति पर काम किये बिना ही लिया है। यह काफी चौंकाने वाला है। कोरिया और जापान के लिए यह सारभूत मुद्दे नहीं हैं। अमरीका चाहता है कि वे दोनों चीन से अलग हो जायें, लेकिन उनके लिए यह आर्थिक आत्महत्या है।"

महबूबानी संयुक्त राष्ट्र में सिंगापुर के प्रमुख राजनयिक थे और देश के वर्तमान प्रधानमंत्री ली ह्विसयन लूंग भी उतनी ही मुखरता से कहते हैं कि एशिया बैनन की पसन्द के प्रति उत्साही नहीं है। उनका कहना है-- "एशियाई देश अमरीका को एक बाहरी शक्ति के रूप में देखते हैं, जिसका इस क्षेत्र से गहरा स्वार्थ जुड़ा हुआ हैं। जबकि, चीन दहलीज पर मौजूद एक वास्तविकता है। एशियाई देश दोनों के बीच चुनाव के लिए मजबूर नहीं होना चाहते हैं। और अगर इस तरह के चुनाव को थोपने की कोशिश की जाती है, अगर वाशिंगटन चीन के उभार को रोकने की कोशिश करता है या बीजिंग एशिया में अपने प्रभाव वाला एक विशेष क्षेत्र बनाना चाहता है, तो वे टकराव का एक क्रम शुरू कर देंगे जो लम्बे समय तक चलेगा और लम्बे समय से चली आ रही एशियाई सदी को संकट में डाल देगा।"

लूंग ने अमरीका से इसे 1946 के दोहराव के रूप में नहीं देखने का भी आग्रह किया। "चीन कोई पोटेमकिन गाँव (ऐसा देश जिसकी आर्थिक हालत खराब हो लेकिन वह दुनिया को दिखाता हो कि उसकी हालत बहुत अच्छी है-- अनु.) या पूरी तरह नियंत्रित अर्थव्यवस्था होने से बहुत दूर है, जैसा सोवियत संघ अपने अन्तिम दिनों में था। इन दो महाशक्तियों के बीच टकराव का अन्त पहले शीत युद्ध जैसा नहीं होगा जिसमे एक देश का शान्तिपूर्ण पतन हो गया था।"

तटस्थ रहने की ऐसी ही कोशिश यूरोप भी कर रहा है। हाँ, यूरोप ने एक साल पहले चीन को "एक व्यवस्थागत प्रतिद्वंद्वी" घोषित किया था और यूरोपीय संघ के अधिकांश देश अपनी आपूर्ति शृंखलाओं में विविधता लाने, विदेशी सब्सिडी को सीमित करने के बारे में सोच रहे हैं, यानी वे संवेदनशील अन्दरूनी चीनी निवेशों को विनियमित करने की समीक्षा करना चाहते हैं। लेकिन यूरोपीय संघ के विदेश नीति प्रमुख जोसेफ बोरेल, नहीं चाहते कि उन्हें ट्रम्प के पूर्ण-युद्ध में घसीटा जाये। इस महीने की शुरुआत में चीनी विदेश मंत्री वांग यी के साथ एक वीडियो वार्ता के बाद उन्होंने सिनात्रा सिद्धान्त पेश किया-- यूरोप अपने खुद के रास्ते पर चलेगा।

बोरेल ने जोर देकर कहा कि चीन कोई सैन्य खतरा नहीं है और बताया कि वांग ने कहा है चीन को "व्यवस्थागत प्रतिद्वंद्वी" कहा जाना पसन्द नहीं है। बोरेल ने भाषाई गाँठों में खुद को बाँधने से पहले कहा कि "शब्द का महत्त्व है", "प्रतिद्वंद्वी का क्या अर्थ है? प्रतिद्वंद्वी किस बारे में? क्या व्यवस्थागत का मतलब दो व्यवस्थाओं के बीच प्रतिद्वंद्विता है? या यह एक व्यवस्थित प्रतिद्वंद्विता है? इसकी दो व्याख्याएँ हैं।"

जर्मनी जैसे देशों के लिए यह शब्दों का खेल नहीं है। 2019 में जर्मनी ने चीन को 96 अरब यूरो का निर्यात किया जो यूरोपीय संघ का लगभग आधा है। वोक्सवैगन ने 2017 के वित्तीय वर्ष में वहाँ 42 लाख कारें बेची। अगर डॉयचे टेलीकॉम को अपने नेटवर्क से चीनी उपकरण आपूर्तिकर्ताओं को हटाने के लिए मजबूर किया गया-- एक परिदृश्य जिसे आर्मगेडन कहा जाता है-- तो इसमें 5 साल लगेंगे और अरबों यूरो खर्च होंगे। एक व्यवस्थित प्रतिद्वंद्विता बर्लिन के हितों में नहीं है, या वास्तव में, यही इसके लोग चाहते हैं। हर सर्वेक्षण में उन्होंने शी जिनपिंग की तुलना में ट्रम्प को विश्व शान्ति के लिए ज्यादा बड़ा खतरा बताया है।

इसी तरह, लातिन अमरीका में कुछ देश चीन केन्द्रित साबित हो रहे हैं। चिली जो शायद इस महाद्वीप पर सबसे मुक्त बाजार वाली अर्थव्यवस्था है, आयात और निर्यात दोनों के मामले में चीन को अपना मुख्य व्यापारिक भागीदार मानता है।

चीन के राष्ट्रपति शी जिनपिंग ने अपनी स्वनिर्मित विदेश नीति, बेल्ट एण्ड रोड इनिशिएटिव को पूरे लातिन अमरीका में विस्तारित कर दिया है, जिस पर क्षेत्र के 20 में से 14 देश हस्ताक्षर कर चुके हैं। अर्जेंटीना के सबसे बड़े व्यापारिक भागीदार के रूप में चीन ने ब्राजील को पीछे छोड़ दिया है। अर्जेंटीना के राष्ट्रपति अल्बर्टो फर्नांडीज ने सलाह दी है कि "व्यापार सम्बन्धों को विचारधारा से मुक्त होना चाहिए"।

ब्राजील में, जहाँ जैर बोल्सोनारो की आमद ने "विश्व वर्चस्व" के लिए बीजिंग की योजनाओं पर नस्लभेदी सन्देश भेजे थे, वहाँ 2019 में साल के पहले पाँच महीनों में समान अवधि की तुलना में चीन को होने वाला निर्यात 13.1 प्रतिशत बढ़ा है। इक्वाडोर के ऋण का एक तिहाइ हिस्सा 18.4 अरब डॉलर चीनी पॉलिसी बैंकों से आया है। मेक्सिको, वेनेजुएला और बोलीविया के चीन के साथ मजबूत व्यापारिक सम्बन्ध भी हैं।

कभी अमरीका के पिछवाड़े का आँगन कहा जाने वाला लातिन अमरीका तेजी से चीन का चबूतरा बन रहा है। करीबी आर्थिक रिश्तों के साथ राजनीतिक खामोशी भी आती है। 2017 के बाद से ताइवान के मुद्दे पर, पनामा, डोमिनिकन गणराज्य और अल सल्वाडोर पाला बदलकर ताइवान से चीन की ओर गये हैं।

बदले में उन्होंने बुनियादी ढाँचे का वित्तपोषण और निवेश हासिल किया है।

लम्बे समय से चीन को अफ्रीका का सबसे बड़ा सहूकार माना जाता है। इतिहासकार नील फर्ग्यूसन कहते हैं "जब वित्तपोषण की बात आती है तो अफ्रीका के लिए कोई दूसरा विकल्प नहीं होता है।" "हम (पश्चिम वाले) प्रभावी तरीके से प्रतिस्पर्धा नहीं कर रहे हैं।" जॉन हॉपकिन्स विश्वविद्यालय के अनुसार अफ्रीकी देशों ने अपने बाहरी कर्ज का लगभग 20 प्रतिशत यानी 150 अरब डॉलर चीन से लिया है।

कील इंस्टिट्यूट फॉर वर्ल्ड इकोनोमी के अनुसार हाल के वर्षों में चीन द्वारा दिया कर्ज आईएमएफ, विश्व बैंक और पेरिस क्लब के संयुक्त ऋण से अधिक हो गया है। यह तब है जबकि चीन द्वारा विकासशील और उभरते देशों को दिये गये अन्तरराष्ट्रीय कर्ज का लगभग 50 प्रतिशत आधिकारिक आँकड़ों में शामिल नहीं है। चीन का कहना है कि जी-20 का हिस्सा होने के नाते वह कम से कम आठ महीनों के लिए भुगतानों को स्थगित करते हुए अफ्रीका के कर्ज के बोझ को कम करने में मदद करेगा। लेकिन इसने विवरणों की घोषणा नहीं की है, और इसके कई ऋणों की शर्तें सन्देहास्पद हैं।

शोध फर्म कैपिटल इकोनॉमिक्स में उभरते बाजारों पर काम करने वाले प्रमुख अर्थशास्त्री विलियम जैक्सन का कहना है, "इन ऋणों की शर्तें बहुत ही अपारदर्शी हैं और इनके पुनर्गठन में बहुत समय लगेगा। अफ्रीकी देशों में मोलभाव की ताकत बहुत कम है। चीन ज्यादा मजबूत स्थिति में है।"

दुनिया भर में फैले इस नेटवर्क का उपयोग चीन ने संयुक्त राष्ट्र के संस्थानों तक पहुँच बनाने के अपने लम्बे अभियान के लिए किया है, जिन मंचों तक अमरीका अपने छोटे अभियानों द्वारा पहुँचने में सक्षम है। पश्चिम को एक शुरुआती चेतावनी 2017 में ही मिल गयी थी, जब विश्व स्वास्थ्य संगठन के संचालन के लिए ब्रिटेन के उम्मीदवार को चीन समर्थित इथियोपियाई उम्मीदवार डॉ टेड्रोस एडनॉम घेबायियस द्वारा पटखनी दी गयी थी। चीन अब संयुक्त राष्ट्र की 15 विशेषज्ञ एजेंसियों में से चार का प्रमुख है। 2019 में खाद्य और कृषि संगठन (एफएओ) के महानिदेशक के चुनाव से पहले चीन ने कैमरून सरकार का 7.8 करोड़ डालर का कर्ज माफ कर दिया जिसके बाद, संयोग से इस देश के नामांकित उम्मीदवार ने अपना नाम वापस ले लिया। चीन ने 191 में से 108 मत हासिल करके फ्रांसीसी उम्मीदवार को हराया।

सालों तक सामाजिक संगठनो में अलग-थलग रहने के बाद अब चीन संयुक्त राष्ट्र मानवाधिकार परिषद में भी सक्रिय हो गया है और उसकी गतिविधियों को प्रायोजित कर रहा है। जुलाई 2019 में 10 लाख उइघुर मुसलमानों के साथ चीन के बर्ताव के बारे में पश्चिमी आलोचना को दबा दिया गया। जुलाई के उस मतदान को चीनी प्रभाव के अम्ल परीक्षण के रूप में देखा गया था। चीन की आलोचना करनेवाले प्रस्ताव का समर्थन दो पश्चिमी देशों ने किया, लेकिन 50 से अधिक देशों ने "मानव अधिकारों का राजनीतिकरण" करने और मानवाधिकारों में चीन की "उल्लेखनीय उपलब्धियों" की सराहना करते हुए इस प्रस्ताव का विरोध करने वाले पत्र पर हस्ताक्षर किये। एक भी मुस्लिम देश ने पश्चिम का समर्थन नहीं किया। तथाकथित "विकासशील देशों के एक जैसी सोच वाले समूह" के सभी देशों ने चीन का समर्थन किया या उसे बरी कर दिया। इसी तरह, पूर्वी यूरोपीय देशों के एक समूह ने बीजिंग को खारिज करने से इनकार कर दिया।

इस वृतान्त ने दिखाया है कि कोई भी ऐसी धारणा जो मानती है कि चीनी अधिनायकवाद को उस रास्ते पर ले जाने वाला, जो अमरीका चाहता है एक गढ़ा गया बहुमत है, यह एक कपोल-कल्पना है। महबूबानी तर्क देते हैं कि जिन देशों में दुनिया की केवल 20 प्रतिशत आबादी बसती है वे चीन-विरोधी गठबन्धन में शामिल होने के इच्छुक हैं, लेकिन बाकी देश ऐसा नहीं करेंगे। लन्दन स्कूल ऑफ इकोनॉमिक्स के एसोसिएट प्रोफेसर डॉ केयू जिन का कहना है कि एक वैश्विक विभाजन है-- "चीन के प्रति कई उभरते बाजारों का दृष्टिकोण समृद्ध औद्योगिक राष्ट्रों से बेहद अलग है। वे चीन मॉडल से सीखना और प्रेरणा लेना चाहते हैं। वे चीन को प्रौद्योगिकी में नवाचार के साथ जोड़ते हैं। दस साल पहले, वित्तीय संकट के दौरान चीन वित्तीय अन्तराल को भरने वाला एकमात्र देश था जब अमरीकी फेडरल रिजर्व के पास केवल छह प्रमुख उन्नत अर्थव्यवस्थाओं के साथ स्वैप लाइनें बची थीं।"

अपने दुश्मन के मामले में चीन भाग्यशाली रहा है। जिस तरह चीन ने अपने सहयोगियों का साथ दिया है, उससे उलट ट्रम्प ने उन्हें अपमानित किया है। मीरा रैप-हूपर ने अपनी नयी पुस्तक शील्ड्स ऑफ द रिपब्लिक में दोनों तरह के तथ्य दिये हैं कि गठबन्धनों के विनाश के लिए किस तरह से ट्रम्प को महिमामंडित किया गया, और अमरीका उसकी कितनी कीमत चुका रहा है। उन्होंने निष्कर्ष निकाला है-- "ट्रम्प को गठबन्धनों को कानूनी रूप से तोड़ने की जरूरत नहीं है-- वह उनके साथ संरक्षण का अवैध धन्धा करता है जिसके लिए संरक्षित पक्ष कभी पर्याप्त भुगतान नहीं कर सकते और वह उनका निराकरण कर देता है। विरोधियों को गले लगाकर वह इस इच्छा का दावा ठोकता है कि उसके सहयोगी खतरों को साझा करें।" इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि कुछ चीनी राजनयिक ट्रम्प के फिर से चुने जाने का और जो विनाशकारी गेंद उसने पश्चिमी गठबन्धन के पाले में डाली है उसकी एक और स्विंग का स्वागत करेंगे।

फिर भी एन वक्त पर पासा पलट सकता है, जिसका मुख्य कारण चीन द्वारा ट्रम्प जितना ही मूर्खतापूर्ण व्यवहार करना होगा। नेशनल ब्यूरो ऑफ एशियन रिसर्च के काउंसलर हारून फ्रीडबर्ग का मानना है कि कोरोनो वायरस के जवाब में चीन का व्यवहार एक किस्म के निर्णायक क्षण का प्रतिनिधित्व कर सकता है। "यह ऐसा है जैसे कि हर स्तर पर संकट के विस्तार ने एक और पर्दा खींच दिया है, जिससे शासन के चरित्र के और अधिक बदसूरत पहलू उजागर हुए हैं और ऐसे विविधतापूर्ण खतरे उभरकर सामने आये हैं जो यह दूसरों के लिए पैदा कर सकता है।"

हाँगकांग के लिए खतरा, और भारत के साथ सीमा पर टकराव केवल उन चीनी कदमों की एक शृंखला के लक्षण हैं जिन्होंने गुट-निरपेक्ष जीवन को कठिन बना दिया है, और इसने लॅनक्सिआंग जियांग धूमन जैसे अधिक पारंपरिक चीनी राजनीतिक विज्ञानियों को त्याग दिया है। उनका तर्क है कि चीन "आत्म-गौरव की कल्पनाओं" में लिप्त होकर खुद को और पश्चिम के साथ अपने सम्बन्धों को अकथनीय नुकसान पहुँचा रहा है।

अगर चीन को नेतृत्व करने के अपने अवसर गवाँ देने का खतरा है तो दूसरों ने भी अन्दाजा लगा लिया है कि मध्यम शक्ति वाले लोकतंत्रों के लिए एक क्षणिक अवसर मौजूद है, जिनमे से कुछ परमाणु शक्ति-समपन्न भी हैं जिसका अधिक बोलबाला है। लोकतंत्रों के एक डी 10 दस देशों के समूह की चर्चा है-- सारतः, जी 7 के साथ ऑस्ट्रेलिया, भारत और कोरिया को मिलकर। यह एक विचार है जो बिडेन के अमरीकी राष्ट्रपति चुने जाने पर रफ्तार पकड़ सकता है। लेकिन यह इस पर निर्भर करता है कि चीन से टकराव को टालने के लिए वाशिंगटन कितना अधिक संयम दिखायेगा।

हालाँकि, वह कभी भी एक अन्तरराष्ट्रीय विचारधारा नहीं बन पाया, लेकिन इतालवी कम्युनिस्ट एण्टोनियो ग्राम्शी ने दो युगों के बीच के अन्तराल पर विचार करते हुए सही कहा था-- "पुरानी दुनिया मर रही है, और एक नयी दुनिया जन्म लेने के लिए संघर्ष कर रही है। अभी दैत्यों का समय है।"

('द गार्डियन' से साभार, अनुवाद-- प्रवीण कुमार)

पेज 73 का शेष...

करती हैं। अगर हम एक-दूसरे पर चिल्लाते रहे और दरवाजे बन्द करते रहे तो दुनिया बहुत अस्थिर हो जायेगी और व्यापार असम्भव हो जायेगा।

वास्तव में आर्थिक टकराव में भी चीन अमरीका का एक हद से आगे बढ़ना सम्भव नहीं है। ज्यादा सम्भावना यही है कि आर्थिक टकराव कुछ सालों तक जारी रहे। जब तक चीन का दुनिया पर निर्णायक प्रभाव स्थापित न हो जाये।

बहुत ही कम समय में विश्व स्तर पर आये इन तीखे बदलावों ने एक नयी विश्व परिस्थिति को जन्म दिया है। दक्षिण चीन सागर विवाद ने इसे प्रमाणित किया है। अमरीका और चीन के रूप में दो विरोधी महाशक्तियाँ आमने-सामने हैं और खेमेबन्दी कर रही हैं। इन दोनों ही महाशक्तियों ने साम्राज्यवादी आर्थिक उदारवाद और वैश्वीकरण को अपनाया है लेकिन यह वैश्वीकरण पुराना पड़ चुका है। मौजूदा अन्तरविरोध इसी वैश्वीकरण की पैदाइश है। यह इनका समाधान नहीं कर सकता और इससे आगे का रास्ता न चीन के पास है और न ही अमरीका के। इन दोनों के बीच का संघर्ष मुख्य रूप से आर्थिक क्षेत्र में रहने वाला है। ऐसा स्पष्ट दिखायी दे रहा है कि दोनों में से कोई भी महाशक्ति पूर्ण सैन्य टकराव नहीं चाहती। आज वैश्विक पूँजीवाद जिस भयावह आर्थिक संकट की गिरफ्त में है और देशों के बीच टकराव बढ़ रहे हैं, चीन और अमरीका के बीच बाजार की छीना-झपटी और इसे लेकर बढ़ता भू-राजनीतिक टकराव इसकी मूल समस्या की गत्थी को सुलझा नहीं पायेगा।

यह परिस्थिति विश्व समीकरण में आ रहे बदलावों की ओर स्पष्ट संकेत दे रही है। कोरोना पूर्व दुनिया और बाद की दुनिया के समीकरण साफ तौर पर भिन्नता लिए उभर रहे हैं। ऐसी परिस्थिति निश्चय ही यथास्थिति को तोड़कर दुनिया को दो कदम आगे बढ़ायेगी। यह प्रगतिशील ताकतों के विस्तार की सम्भावनाओं को भी जन्म जरूर देगी।

"इस महाजनी सभ्यता में सारे कामों की गरज महज पैसा होती है। किसी देश पर राज्य किया जाता है, तो इसलिए कि महाजनों, पूँजीपतियों को ज्यादा से ज्यादा नफा हो। इस दृष्टि से मानों आज दुनिया में महाजनों का ही राज्य है। मनुष्य समाज दो भागों में बँट गया है। बड़ा हिस्सा तो मरने और खपने वालों का है, और बहुत ही छोटा हिस्सा उन लोगों का, जो अपनी शकित और प्रभाव से बड़े समुदाय को अपने बस में किये हुए हैं। इन्हें इस बड़े भाग के साथ किसी तरह की हमदर्दी नहीं, जरा भी रू-रियायत नहीं। उसका अस्तित्व केवल इसलिए है कि अपने मालिकों के लिए पसीना बहाये, खून गिराये और एक दिन चुपचाप इस दुनिया से विदा हो जाय।"

(महाजनी सभ्यता, प्रेमचन्द)

कोरोना काल में दक्षिण चीन सागर का गहराता विवाद

-- प्रवीण कुमार

कोरोना महामारी के वैश्विक प्रसार के बाद दो महत्त्वपूर्ण चीजें एक समानुपात में बढ़ी हैं-- कोरोना महामारी से निपटने में अमरीका की असफलता और चीन के खिलाफ अमरीका की उग्रता। दक्षिणी चीन सागर विवाद इसी एकतरफा उग्रता का परिणाम है और लगता है कि जैसे यह दूसरे शीत युद्ध का प्रस्थान बिन्दु हो।

अभी हम दक्षिणी चीन सागर विवाद के दूसरे चरण से रूबरू हैं। पहला चरण 2017 में आया था। जब चीन ने अन्तरर्राष्ट्रीय न्यायालय के फैसले को मानने से इनकार कर दिया था। चीन ने न्याय प्रक्रिया में भी हिस्सा नहीं लिया था। उसका तर्क था कि यह विवाद इस न्यायालय के दायरे में ही नहीं आता।

पहले चरण में चीन हावी था और इस क्षेत्र में और ज्यादा मजबूत होता गया। चीन के साथ विवाद के दूसरे वास्तविक पक्ष वियतनाम, मलेशिया, फिलिपीन्स, ताइवान, ब्रूनेई चीन के साथ आपसी बातचीत से मुद्दे को हल करने का रास्ता अपनाकर चुप बैठ गये थे। अमरीका, आस्ट्रेलिया और भारत जो इस विवाद में पक्ष भी नहीं थे, वे भी आखिरकार बेआबरू होकर टकराव से बाहर निकले। ये देश इस क्षेत्र में मुक्त-नौपरिवहन चाहते हैं।

कोरोना, हाँगकाँग, उईगर मुसलमान जैसे मुद्दों पर मार्च के महीने से ही चीन के खिलाफ अमरीका लगातार गैर-जिम्मेदाराना और उग्र बयानबाजी कर रहा था। बाद में ब्रिटेन भी उसके साथ मिलकर बयानबाजी करने लग गया। बयानबाजी से आगे बढ़ते हुए जून के महीने में अमरीका ने अपना जंगी बेड़ा दक्षिण चीन सागर में घुसा दिया। अप्रैल और मई में इस क्षेत्र में चीन का वियतनाम और मलेशिया के साथ टकराव हुआ था, जो यहाँ आये दिन की बात है। इसी बहाने से अमरीका मुक्त-नौपरिवहन का अलमबरदार बनकर दुबारा यहाँ घुसा है। संयोग से, लद्दाख में चीन से चोट खाये भारत का सहयोग मिल जाने से उसकी राह और आसान हो गयी।

अमरीका कई बार कह चुका है कि वह इस क्षेत्रीय झगड़े में नहीं घुसेगा लेकिन मुक्त-नौपरिवहन के रूप में उसने ऐसा कुतर्क गढ़ लिया है जिससे उसे चीन के खिलाफ खेमेबन्दी में मदद मिलती है। कमाल यह है कि विवादित द्वीपों के पास अपने जंगी जहाज और विमान तैनात करके वह चीन पर क्षेत्र के सैन्यकरण का आरोप लगा रहा है।

यूरोपीय उपनिवेशक दुनिया में जहाँ भी गये, वहाँ सीमा विवाद का असाध्य रोग बाँटकर आये। इनकी गुलामी से आजाद हुए देश आज तक सीमाई झगड़ों में उलझे हुए हैं। दक्षिण चीन सागर विवाद भी उसी का एक नमूना है। इस सागर में मौजूद स्पर्टली और पार्सन्स द्वीप समूहों के द्वीपों तथा चट्टानों पर क्षेत्र के सारे देश अपना-अपना दावा करते हैं। इनमें से अधिकतर पर चीन काबिज है। चीन 2012 से इन पर नागरिक बस्तियाँ बसा रहा है। इनके प्रशासनिक केन्द्र के रूप में वूडी द्वीप पर साँसा शहर बसाया गया। पार्सन्स द्वीप समूह के द्वीपों को अलग प्रदेश का दर्जा दे दिया। यहाँ स्कूल, बैंक, अस्पताल, बाजार जैसी नागरिक सुविधाएँ सालों से चालू हैं। स्पर्टली द्वीप समूह के द्वीपों पर चीन ने विश्व के सैन्य निर्माण और इंजीनियरिंग का सबसे बड़ा कारनामा करते हुए सेटेलाइट और हवाई निगरानी प्रणाली, मिसाइल प्रणालियाँ, उच्च क्षमता की रडार प्रणालियाँ, हवाई पट्टियाँ, आयुध भण्डार स्थापित किये हैं।

दक्षिण चीन सागर से सटे बाकी देशों का केवल चीन के साथ ही विवाद नहीं है बल्कि उनके आपसी विवाद भी है, जो मामले को और पेचीदा बना देते हैं। भले ही इसका एक कारण चीन की जबरदस्त ताकत और बाकी देशों की चीन पर निर्भरता हो, लेकिन मौजूदा हालात में सभी देश विवाद का समाधान आपसी बातचीत के जरिये ही चाहते हैं और वे इस क्षेत्र में अमरीका की दखलंदाजी नहीं चाहते। इसीलिए अमरीका को मुक्त-नौपरिवहन का मनगढन्त तर्क उछालना पड़ा। क्या आज की दुनिया में यह सम्भव है कि किसी देश के समुद्री क्षेत्र से बिना रोक-टोक गुजरा जा सके?

दक्षिण चीन सागर विवाद के इस दूसरे चरण में भी पहले की तरह अमरीका, आस्ट्रेलिया, भारत और जापान मुक्त-नौपरिवहन की सबसे ज्यादा वकालत कर रहे हैं। यह मुक्त-नौपरिवहन और कुछ नहीं चीन को घेरने की कोशिश है, जिसमें ये एक वे बार नाकाम हो चुके हैं। आज जिस क्वाइड (क्वाडीलेटरल सिक्योरिटी डाईलॉग-- अमरीका, आस्ट्रेलिया, भारत और जापान का एक अनौपचारिक रणनीतिक मंच) के दम पर चीन की नाक में दम करने के दावे किये जा रहे हैं वह एक पुरानी पिटी हुई योजना है। पहली बार यह योजना जापानी प्रधानमंत्री शिंजो आबे की पहलकदमी पर 2007 में अस्तित्व में आयी थी। कारवाँ अभी चला भी नहीं और ये गुबार की बातें, क्वाइड को बने अभी एक साल भी नहीं हुआ था कि इसमें फूट पड़

गयी। 2007 में ही आस्ट्रेलिया अलग हो गया था। कुछ दिनों बाद भारत और जापान भी अलग हो गये।

2017 में, दक्षिण चीन सागर विवाद के पहले चरण के बाद क्वाइड को पुनर्गठित किया गया। आसानी यह थी कि अभी-अभी भारत ने डोकलाम में चीन से चोट खायी थी और जापान के साथ संकाकू द्वीप के मामले पर चीन का टकराव तेज हो गया था। क्वाइड में इस बार फूट तो नहीं पड़ी लेकिन यह बिना कोई खास प्रभाव छोड़े बस्ताखामोशी में चला गया। वजह वही थी, कोई भी चीन के साथ सीधा टकराव नहीं चाहता था।

इसके बाद भारत ने बार-बार दोहराया कि वह किसी देश के खिलाफ किसी भी रणनीतिक गठबन्धन में शामिल नहीं होगा। भारत के पूर्व सुरक्षा सलाहकार शिव शंकर मेनन ने कहा था कि भारत के लिए आदर्श स्थिति यह है कि वह अमरीका और चीन के साथ उससे भी ज्यादा नजदीकी कायम करे जितनी इन दोनों के बीच है।

अब दक्षिण चीन सागर विवाद के दूसरे चरण में क्वाइड को लेकर फिर से बड़े-बड़े दावे किये जा रहे हैं। लेकिन कम से कम भारत और जापान का तात्कालिक स्वार्थ साफ दिखायी दे रहा है। भारत चीन पर दबाव का फायदा लद्दाख में उठाना चाहता है। इसकी हालत अजीब है। इसने दक्षिण चीन सागर में जंगी जहाज भेजा है लेकिन खुलकर यह नहीं कह सकता कि चीन ने लद्दाख में जमीन कब्जायी है, चीन के साथ शंघाई सहकार और ब्रिक्स में महत्त्वपूर्ण भूमिका में भी है। जापान ने दुनिया की उथल-पुथल और इस विवाद का फायदा उठाकर 135 अरब डॉलर के हथियार सौदे किये हैं।

दक्षिण चीन सागर इतना महत्त्वपूर्ण क्यों है?

दक्षिण चीन सागर दुनिया का दूसरा सबसे अधिक व्यस्त समुद्री मार्ग है। दुनिया के कुल समुद्री व्यापार का एक तिहाई, लगभग 3000 अरब डॉलर इससे होकर गुजरता है। चीन के कुल आयात का 40 प्रतिशत और ऊर्जा आयात का 80 प्रतिशत इसी रास्ते से आता है। इस क्षेत्र में पेट्रोलियम और प्राकृतिक गैस के बड़े भण्डार मौजूद हैं। अनुमान है कि यहाँ 7.7 अरब बैरल से लेकर 28 अरब बैरल तक का तेल भण्डार और 266 लाख करोड़ क्यूबिक फीट गैस भण्डार मौजूद है। यह क्षेत्र चीन और दुनिया के समुद्री व्यापार की जीवन रेखा के साथ-साथ एक ऐसी चाबी है जिसकी ताकत के दम पर चीन दुनिया से मोल-भाव कर सकता है। चीन निश्चित रूप से इस क्षेत्र में अमरीका से अधिक फायदा उठाता रहा है, लेकिन पूरी तरह से इसकी चाबी अभी न चीन और न ही अमरीका की जेब में है।

भूराजनीतिक और सामरिक रूप से महत्त्वपूर्ण इस क्षेत्र के लिए अमरीका और चीन के बीच टकराव लम्बे समय से जारी है। 2011 में तत्कालीन अमरीकी राष्ट्रपति बराक ओबामा ने चीन के साथ सीधे टकराव से बचते हुए उसे घेरने की कोशिश की थी। आर्थिक मोर्चे पर अमरीका ट्रांस पैसेफिक पार्टनरशिप (टीपीपी) में शामिल हुआ और सामरिक मोर्चे पर पूर्वी एशिया शिखर सम्मेलन में। बराक ओबामा की योजना को एक ओर हटाकर ट्रम्प ने चीन के साथ सीधे टकराव का रास्ता चुना। ट्रम्प के पूर्व सलाहकार स्टीव बेनन ने इसके बारे में कहा था कि यह दो अंसगत व्यवस्थाएँ हैं। एक पक्ष को जीतना ही है और दूसरे की हार निश्चित है। कोरोना महामारी से पहले यह टकराव कुछ साल दूर दिखायी दे रहा था लेकिन महामारी ने इसे अमरीका और चीन के दरवाजे पर ला पटका।

महामारी की शुरुआत से ही अमरीका बेतुके तर्कों के आधार पर लगातार कोरोना के लिए चीन को दोषी ठहरा रहा है। अपनी लम्पटता का प्रदर्शन करते हुए अमरीकी राष्ट्रपति ट्रम्प ने कोरोना वायरस को चीनी वायरस का नाम दिया। कोरोना से निपटने में ज्यों-ज्यों अमरीका की असफलता बढ़ती गयी, त्यों-त्यों चीन के खिलाफ उसका जबानी हमला तेज होता गया। अप्रैल में अमरीकी रिपब्लिकन पार्टी के सांसदों की एक सभा में 57 पेज का एक ज्ञापन बाँटा गया था। इसका आधार वाक्य था "ट्रम्प का बचाव मत करो चीन पर हमला करो।" इसमें यह सलाह भी दी गयी थी कि रिपब्लिकन राजनीतिज्ञों को चीन को कोरोना वायरस के वैश्विक प्रसार का दोषी ठहराना चाहिए। इसके साथ ही वायरस के इलाज के लिए जरूरी चिकित्सा उपकरणों, दवाओं, जाँच किट जैसे दूसरे सामानों की जमाखोरी करने का आरोप भी चीन के मत्थे मढ़ना चाहिए।

इस रणनीति पर अमल करते हुए अमरीकी विदेश मंत्री माइक पोम्पियो ने उग्र और गैर-जिम्मेदाराना बयानबाजी के मामले में ट्रम्प को भी पीछे छोड़ दिया। उन्होंने चीन के बारे में कोई भी बयान देने में कम्युनिस्ट शब्द का एक विशेषण की तरह इस्तेमाल किया। चीन के लिए हमेशा कम्युनिस्ट चीन, चीन की कम्युनिस्ट सरकार जैसे शब्दों का इस्तेमाल किया। वह अच्छी तरह जानते हैं कि इस शब्द का अमरीकी और यूरोपीय जनता पर कैसा असर होता है। हद यह थी कि उन्होंने चीन की कम्युनिस्ट पार्टी को वैश्विक आतंकवाद से भी बड़ा खतरा बताया। मामले को सामरिक रंग देते हुए उन्होंने कहा कि दक्षिण चीन सागर में चीन के सभी दावे गैर-कानूनी हैं।

शुरू में लगा था कि राष्ट्रपति चुनाव में ट्रम्प के डेमोक्रेट प्रतिद्वन्दी जोय बिडेन, कोरोना वायरस से निपटने में अमरीकी प्रशासन की असफलता को ढकने के लिए चीन के खिलाफ किये जा रहे इस पाखण्डपूर्ण दुष्प्रचार का पर्दाफाश करेंगे। उन्होंने ऐसा नहीं किया। इसके विपरीत उन्होंने चीनी खतरे को और ज्यादा बढ़ा-चढ़ा कर पेश किया, चीनी राष्ट्रपति शी जिनपिंग को ठग और जन-संहारक कहा तथा ट्रम्प की इस खतरे से तुरन्त नहीं निपटने के लिए आलोचना की। इससे स्पष्ट हो गया कि चीन के खिलाफ बयानबाजी चुनावी जुमले से आगे बढ़कर अमरीकी शासक वर्ग की नीति का

हिस्सा बन गया है।

अमरीकी रक्षा सचिव और भूतपूर्व रक्षा लॉबिस्ट मार्क एस्पर साल के शुरू से ही कह रहा था कि अमरीका को अफगानिस्तान, सोमालिया और मध्यपूर्व से बाहर आ जाना चाहिए, ताकि सारी ताकत चीन के खिलाफ केन्द्रित की जा सके। उसका बयान था कि इन सभी जगहों से अपने सैनिकों को मुक्त करके हम या तो उन्हें आराम करा सकते हैं या चीन से मुकाबले के लिए एशिया-प्रशान्त क्षेत्र में तैनात कर सकते हैं, ताकि हम सैनिकों को युद्ध अभ्यास और प्रशिक्षण देकर अपने सहयोगियों को आश्वस्त कर सके। दक्षिण चीन सागर में आज हम मार्क एस्पर की कही बातों को वास्तविक रूप लेते देख रहे हैं। अभी तो यही लगता है कि सामरिक क्षेत्र में अमरीका और चीन वास्तविक टकराव के लिए अभी तैयार नहीं है।

अन्तरराष्ट्रीय सम्बन्धों के विद्वान रिचर्ड फॉक का कहना है कि चीन के साथ छुटपुट झड़प के वास्तविक युद्ध में बदल जाने का खतरा था। अमरीका और चीन दोनों ही यह नहीं चाहते। ऐसे में एक ही विकल्प था कि एक बहुआयामी शत्रुता वाला शीत युद्ध छेड़ा जाये जो अन्तरराष्ट्रीय सम्बन्धों पर अमरीकी प्रभुत्व बरकरार रख सके।

दक्षिण चीन सागर विवाद ने नये तरह के शीत युद्ध पर आधिकारिक मुहर लगा दी है। इसका अर्थ है कि दोनों देश खेमेबन्दी करेंगे। अमरीका-ब्रिटेन और चीन-रूस के रूप में दो खेमे बन भी गये हैं। ये अपनी मुख्य भूमि पर टकराव नहीं करेंगे, बल्कि दुनिया के दूसरे हिस्सों में टकराव को जन्म देंगे। एक-दूसरे के मुनाफे हड़पेंगे और अपने-अपने नुकसान की भरपाई दुनिया भर की जनता को लूटकर करेंगे।

चिरन्तन जारी वैश्विक मन्दी और नवउदारवादी मॉडल की विकृतियों के अलावा दुनिया का इस नये संकट की दहलीज पर ले जाने वाला एक कारक वैश्वीकरण के दौर में हुआ चीन का तेज आर्थिक विकास भी है। पिछले डेढ़ दशक के दौरान चीन का आर्थिक विस्तार चीन और अमरीका समेत पश्चिमी दुनिया को फायदा पहुँचाने वाला रहा है। चीन जितनी तेज रफ्तार से बढ़ रहा था उतनी ही रफ्तार से अमरीका और दूसरे विकसित देशों की कम्पनियों के मुनाफों में भी बढ़ोतरी हो रही थी। चीन के सस्ते कुशल मजदूरों की मेहनत की लूट और पर्यावारण तथा सुरक्षा सम्बन्धित कठोर नियमों की गैर मौजूदगी से विकसित देशों ने चीन के मुकाबले कई गुना फायदा उठाया, लेकिन एक हद से आगे निकलने के बाद अमरीका का चीन से आर्थिक रिश्ता तोड़ना नामुमकिन-सा हो गया। 2011 में एक रात्रिभोज में राष्ट्रपति ओबामा ने स्टीव जॉब्स से पूछा था-- क्या एप्पल अपने आईफोन अमरीका में नहीं बना सकता। स्टीव का जवाब स्पष्ट था-- ये नौकरियाँ अब अमरीका नहीं आ सकतीं। पश्चिमी दुनिया चीन के सस्ते कुशल श्रम के आगे लाचार है।

जब तक चीन ने खुद को दुनिया का कारखाना बनाये रखा तब तक सभी बहुत खुश थे। सभी जगह चीनी मॉडल की तारीफों के पुल बाँधे गये। लेकिन 2015 के बाद जब चीन परिमार्जित उन्नत तकनीकी अर्थव्यवस्था में बदलने लगा तो बाजार पर कब्जे को लेकर अमरीका और विकसित पश्चिमी दुनिया के सामने एक नयी भू-राजनीतिक चुनौती खड़ी हो गयी। इसके बाद चीन के साथ दुश्मनाना व्यवहार शुरू हो गया। अमरीकी खेमे द्वारा चीन पर पश्चिम की तकनीक चुराना, मुद्रा-मूल्यों से छेड़छाड़, अन्यायपूर्ण व्यापार सम्बन्ध, भू-राजनीतिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण क्षेत्रों पर कब्जा, उईगर मुसलमानों का दमन, हाँगकाँग में दमन जैसे आरोप लगाये गये।

रिर्चड फॉक का यह भी मानना है कि वास्तव में पश्चिम को चिन्तित करने वाला मुद्दा यह था कि राजनीतिक अधिनायकवाद और काफी हद तक राज्य नियंत्रित आर्थिक गतिविधि के जरिये चीन ने पूँजीवाद को इस ढंग से अपनाया है कि यह पश्चिम के विकसित पूँजीवादी देशों को चुनौती देने की हालत में आ गया है।

यह चीनी पूँजीवाद की ऐसी विशेषता है जिसे हासिल करना पश्चिमी दुनिया के लिए लगभग असम्भव है। इसके अलावा नव उदारवादी दौर में पूरी दुनिया की अर्थव्यवस्थाएँ और खास तौर पर पश्चिमी अर्थव्यवस्थाएँ चीन की अर्थव्यवस्था के साथ इतनी गहरायी से जुड़ गयी हैं और उसके सस्ते श्रम कौशल पर इतनी ज्यादा निर्भर हो गयी हैं कि उससे पूर्ण सम्बन्ध विच्छेद नामुमकिन-सा हो गया है। लेकिन पश्चिमी ताकतें मुख्य रूप से अमरीकी सरकार दुनिया पर चीन के बढ़ते प्रभाव को रोकना भी चाहती है। ट्रम्प की ताजपोशी के बाद से चीन और अमरीका के बीच चल रहा आर्थिक टकराव इसी का नतीजा है।

कोरोना परिघटना ने दुनिया पर चीन का प्रभाव बढ़ाने की सम्भावना को और ज्यादा मजबूत कर दिया। कोरोना का पहला शिकार बनने के बावजूद चीन तेजी और आसानी से संकट के बाहर आ गया जबकि यूरोप और खास तौर पर अमरीका इस संकट से निपटने में नाकाम रहे। इसने चीन के पक्ष में ऐसी परिस्थिति पैदा कर दी, जिससे अमरीका हार भी नहीं मान सकता और निपट भी नहीं सकता। इस परिस्थिति की जटिलता को व्यक्त करते हुए 'अमरीका चीन सम्बन्ध केन्द्र' के निदेशक ओरवेल शेल ने कहा, हम रिश्तों की एक खतरनाक और तीव्र गिरावट में फँस गये हैं जो बेवजह नहीं है। टकराव की गम्भीरता विशिष्ट और समाधेय चुनौतियों की दीवार लाँघकर व्यवस्थाओं और मूल्यों के टकराव में पहुँच गयी है।

अमरीका चीन व्यापार काउंसिल के प्रमुख केग एलन का कहना है कि हम दो महाशक्तियों की इस टकराव से चिन्तित हैं जो कुल वैश्विक आर्थिक उत्पादन के 40 प्रतिशत का प्रतिनिधित्व

शेष पेज 70 पर...

रूस का बढ़ता वैश्विक प्रभाव और टकराव की नयी सम्भावना

-- विक्रम प्रताप

आज रूस एक वैश्विक ताकत है, इस बात से इनकार करना मुश्किल है और इस बात पर भी यकीन नहीं आता कि 1990 के दशक में सोवियत संघ के विघटन के बाद वह एक कमजोर देश में तब्दील हो गया था। उस दौर में उसकी अर्थव्यवस्था की हालत डावाँडोल थी। नये शासक वर्ग ने सोवियत दौर के राजनीतिक सिद्धान्त को तिलांजली दे दी थी, जबकि आगे बढ़ने का उसके पास कोई राजनीतिक मॉडल भी नहीं था, और न ही पश्चिमी देशों के लोकतंत्र का उसे कोई अनुभव था। अमरीका और यूरोपीय संघ उसे सन्देह की नजरों से देखते थे कि शायद रूस नवउदारवादी मॉडल को न अपना पाये और अमरीकी वर्चस्व को स्वीकार न करे। नाटो के जरिये अमरीका रूस की घेराबन्दी करने में लगा हुआ था। सोवियत विघटन से बने देशों के साथ रूस अलग-अलग तरह के टकरावों में उलझा हुआ था। दुनिया भर में कोई भी ताकतवर देश न तो उस पर विश्वास करता था और न ही उसके पक्ष में खड़ा होने की जहमत उठाता था। इन सब प्रतिकूल परिस्थितियों के बावजूद उसने खुद को सम्हाला और आज वह एक विश्वस्तरीय ताकत बनकर अमरीका को पूर्वी यूरोप और मध्य एशिया से पीछे धकेलता जा रहा है। इतने बड़े बदलाव को उसने कैसे अंजाम दिया, यही इस लेख का विषय है।

विघटन के बाद लगभग एक दशक तक रूस के राष्ट्रपति रहे बोरिस येल्तसिन, जिन्होंने निजीकरण को आगे बढ़ाया था, देश के अन्दर उनका विरोध जारी था। रूस में सत्ता के लिए संघर्ष और आर्थिक सुधारों की दिशा में बढ़ने के चलते एक राजनीतिक संकट का जन्म हुआ और 1993 की शरद ऋतु में खून खराबा भी हुआ। येल्तसिन तथा संसद आमने-सामने टकराव की मुद्रा में आ गये। 22 सितम्बर को संसद ने येल्तसिन को अपदस्थ करके एलेक्ट्रा रुतस्कॉय को नया राष्ट्रपति नियुक्त करने की घोषणा की। 2-3 अक्टूबर को सड़क पर हुए दंगों के बाद तनाव तेजी से बढ़ गया। 4 अक्टूबर को येल्तसिन ने विशेष बलों और एलीट सेना की टुकड़ियों को संसद भवन जिसे "व्हाइट हाउस" कहा जाता है, पर हमला करने का आदेश दिया। संसदीय समर्थकों ने आत्मसमर्पण कर दिया और उन्हें तुरन्त गिरफ्तार कर जेल भेज दिया गया। आधिकारिक गिनती के अनुसार इस टकराव में दोनों ओर से 187 लोग मारे गये थे, 437 घायल हुए थे।

इस प्रकार सोवियत बाद की रूसी राजनीति में संक्रमणकालीन अवधि समाप्त हो गयी। दिसम्बर 1993 में जनमत संग्रह के बाद एक नये संविधान को स्वीकार कर लिया गया। रूस को एक मजबूत राष्ट्रपति प्रणाली दी गयी। निजीकरण को आगे बढ़ाया गया। हालाँकि पुराने संसदीय नेताओं को 26 फरवरी, 1994 को रिहा कर दिया गया, लेकिन वे इसके बाद राजनीति में कोई खुली भूमिका नहीं निभा पाये।

रूस में आर्थिक सुधार, मुट्ठीभर नवधनाढ्य वित्तपतियों का उदय और उनके हाथों में सत्ता का केन्द्रीकरण

दुनिया की सबसे बड़ी राज्य-नियंत्रित अर्थव्यवस्था रूस का बाजारोन्मुख अर्थव्यवस्था का रूपान्तरण असाधारण रूप से कठिन काम था। इस कठिन संक्रमण के लिए उदारीकरण और निजीकरण की नीतियों को बढ़ावा दिया गया। ये नीतियाँ अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष (आईएमएफ) और विश्व बैंक की नवउदारवादी नीति के अनुकूल तथा वाशिंगटन आम सहमति पर आधारित थीं।

रूस में निजीकरण और पूँजीवादी नीतियों को बढ़ावा देने के चलते संख्या में कम, लेकिन आर्थिक रूप से सम्पन्न वित्तीय कुलीन वर्ग का उदय हुआ। 1980 के दशक के अन्त और 1990 के दशक की शुरुआत में रूसी अर्थव्यवस्था के द्वार विदेशी पूँजी के लिए खोल दिये गये। इसके चलते देशी पूँजीपतियों के लिए भी नये अवसरों की बाढ़ आ गयी। जैसा कि हम जानते हैं कि 20 वीं सदी के उत्तरार्ध में सोवियत व्यवस्था पूँजीवाद विरोधी नहीं रह गयी थी, खुद इस व्यवस्था के अन्दर ही कम्युनिस्ट पार्टी, केजीबी, और कोम्सोमोल (सोवियत यूथ लीग) के नेता, बॉस और टेक्नोक्रेट सोवियत युग की ताकत और विशेषाधिकारों को भुना रहे थे। कइयों ने चुपचाप पार्टी, सरकार और जनता की सम्पत्ति को विदेशी खातों और निवेशों में हस्तान्तरित कर दिया था। दूसरे कुछ लोगों ने गैर-कानूनी बैंक और व्यवसाय को चोरी छिपे चलाना शुरू किया। इन्होंने सरकार में अपने अन्दरूनी सूत्रों का लाभ उठाते हुए सरकारी अनुबन्धों और लाइसेंसों को हासिल करने और उच्च बाजार-मूल्य पर व्यापार करने, राज्य-रियायती कीमतों पर वित्तीय क्रेडिट और आपूर्ति प्राप्त करने के लिए खूब जोड़-तोड़ किया था। उसी समय कुछ ऐसे युवा लोगों ने अमीर बनने के लिए दूसरा रास्ता अपनाया, जिनकी सामाजिक-राजनीतिक पहुँच बहुत अधिक नहीं थी। 1987 और 1992 के बीच, इन अग्रणी उद्यमियों ने प्राकृतिक संसाधनों और विदेशी मुद्राओं का व्यापार करके

तथा विदेशी आयात को घरेलू बाजार में ऊँची कीमतों पर बेचकर काफी धन जुटाया। बदले में, नकदी आधारित और अत्यधिक अपारदर्शी बाजारों के ऊभार ने बड़ी संख्या में रैकेट गिरोह को पनपने के लिए माकूल अवसर उपलब्ध कराया।

1990 के दशक के मध्य तक, भूतपूर्व सोवियत नेताओं ने काफी वित्तीय संसाधन जमा किये, जबकि दूसरी ओर, सबसे सफल उद्यमी भी सरकारी अधिकारियों और सार्वजनिक राजनीतिज्ञों से साँठ-गाँठ करने में सफल हुए। राज्य के उद्यमों के निजीकरण ने उनके पास एक अनूठा अवसर उपलब्ध कराया, ताकि वे सार्वजनिक सम्पत्ति को अपने अधीन कर सकें। येल्तसिन सरकार ने बड़े पैमाने पर निजीकरण को जम्प-स्टार्ट देने के लिए मुफ्त वाउचर प्रणाली का उपयोग किया। लेकिन इसने लोगों को नकदी के साथ निजीकृत उद्यमों में स्टॉक के शेयरों को खरीदने की भी अनुमति दी। भले ही शुरू में प्रत्येक नागरिक को समान मूल्य का वाउचर प्राप्त हुआ हो, कुछ महीनों के भीतर अधिकांश वाउचर्स बिचौलियों के हाथों में परिवर्तित होते चले गये। बैंक और वित्तीय संस्थान के जरिये निवेश, विनिवेश तथा शेयरों की सौदेबाजी ने कुछ शक्तिशाली और धनी वित्तीय समूहों को मूल्यवान राजकीय सम्पत्ति हासिल करने में सक्षम बनाया। देश में चल रहे आर्थिक सुधारों की तेज आँधी के चलते एक बहुत बड़े वित्तीय कुलीन वर्ग का जन्म हुआ।

रूस के सबसे शक्तिशाली और प्रमुख वित्तीय कुलीनों ने, जो एकाधिकारी कम्पनियों के मालिक हैं, देश की राजनीति और अर्थव्यवस्था पर अपना दबदबा कायम कर लिया। इसके चलते रूसी जनता दिनोंदिन कंगाली का शिकार होती गयी और उसका जीवन स्तर नीचे गिर गया। हालत यह हो गयी कि रूस में यह वित्तीय कुलीन वर्ग जनता का सबसे अधिक घृणा का पात्र बन गया। दूसरी ओर यूरोप और अमरीका ने "मुक्त-बाजार सुधारों" का रास्ता अपनाने के लिए रूस की तारीफ के पुल बाँध दिये और यह खुश-फहमी पाल चले कि रूस पश्चिमी लोकतांत्रिक चुनावी व्यवस्था को अपना लेगा। लेकिन बाद में इन्होंने रूस की अन्दरूनी राजनीति पर प्रभाव जमाने के लिए भ्रष्टाचार और वित्तीय संकटों की जिम्मेदारी वित्तीय कुलीन वर्ग के कन्धों पर डालने का दिखावा किया। रूस ने जल्द ही अर्थव्यवस्था के क्षेत्र में अमरीका प्रायोजित पश्चिम के नवउदारवादी मॉडल को अपना लिया, लेकिन वह राजनीतिक प्रणाली के रूप में पश्चिमी लोकतंत्र से उतना ही बेगाना बना रहा।

वित्तीय संकट और राजनीतिक उथल-पुथल

बाजारों में शुरुआती उथल-पुथल और तेजी के बाद, रूस आर्थिक मन्दी में फँस गया। 1998 की वैश्विक मन्दी, जो जुलाई 1997 में एशियाई वित्तीय संकट के साथ शुरू हुई थी, इसने रूस के आर्थिक संकट को बढ़ा दिया। फिर से महँगाई बढ़ने लगी थी। 1990-91 में सोवियत संघ के विघटन के बाद, रूस ने गरीबी और आर्थिक असमानता की दरों में तेज वृद्धि का सामना किया था। बाजार-उन्मुख आर्थिक सुधारों के चलते रूसी आबादी का जीवन स्तर गिर गया था। फलस्वरूप, सुधारों के खिलाफ जनता में विरोध की लहर दौड़ गयी। सुधार विरोधी उम्मीदवारों को वोट देकर जनता ने अपनी नाराजगी जाहिर की। ऐसा करते हुए वह अपने सोवियत कालीन अतीत को अक्सर याद करती रही और वह उस दौर की स्थिरता और व्यक्तिगत सुरक्षा के लिए तरस गयी। जनता ने सोवियत काल के राज्य-नियंत्रित मजदूरी और कीमतों का लाभ उठाया था और वह 1990 के दशक में आर्थिक सुधारकों और नये नग्न पूँजीवाद के प्रति शत्रुतापूर्ण रुख रखती थी।

रूसी निर्यात के 80 प्रतिशत से अधिक का हिस्सा तेल, प्राकृतिक गैस, धातु और लकड़ी के निर्यात का है। आर्थिक संकट के चलते इनका निर्यात गिर गया और रूबल का अवमूल्यन हो गया। पश्चिमी लेनदारों की भारी कमी हुई, और रूस के डूबते बैंकिंग क्षेत्र का एक बड़ा हिस्सा नष्ट हो गया, क्योंकि कई बैंकों के ऊपर काफी डॉलर उधार थे। विदेशी निवेश देश से बाहर चला गया, और वित्तीय संकट ने रूस से पूँजी का एक अभूतपूर्व बहिर्गमन शुरू किया। इससे सरकारी राजस्व में और कमी आ गयी और जल्द ही केन्द्र सरकार ने बड़े ऋणों की अदायगी में खुद को असमर्थ पाया और अन्ततः वह अपने कर्मचारियों का भुगतान करने में भी असफल हो गयी। सरकार ने कर्मचारियों को मजदूरी, पेंशन और फँड का समय पर भुगतान करना बन्द कर दिया और जब श्रमिकों को भुगतान किया जाता था, तो यह अक्सर रूबल के बजाय माल के साथ होता था। कोयला खनिक विशेष रूप से खराब हालत में थे और गर्मियों में कई हफ्तों तक उन्होंने विरोध के साथ ट्रांस-साइबेरियन रेलमार्ग के खण्डों को अवरुद्ध कर दिया, प्रभावी रूप से देश को दो हिस्सों में काट दिया गया। जैसे-जैसे समय बीता, उन्होंने अपनी आर्थिक माँगों के अलावा येल्तसिन के इस्तीफे की माँग भी की।

रूस आश्चर्यजनक गति के साथ वित्तीय संकट से वापस उबर गया। इसका कारण यह है कि 1999-2000 के दौरान विश्व बाजार में तेल की कीमतों में तेजी से वृद्धि हुई (जिस तरह विश्व बाजार में ऊर्जा की कीमतों में गिरावट ने रूस की वित्तीय परेशानियों को और गहरा कर दिया था, उसी तरह उसकी अर्थव्यवस्था में पेट्रोलियम के मँहगे निर्यात से तेज सुधार भी हुआ।)। खाद्य प्रसंस्करण जैसे घरेलू उद्योगों को मुद्रा अवमूल्यन से लाभ हुआ, जिसके कारण आयातित वस्तुओं की कीमतों में भारी वृद्धि हुई। इसके अलावा, चूँकि रूस की अर्थव्यवस्था विनिमय के अन्य वस्तु और गैर-मौद्रिक साधनों पर इतनी बड़ी मात्रा में काम कर रही थी, वित्तीय पतन का कई उत्पादकों पर प्रभाव कम था।

व्लादिमीर पुतिन तानाशाह या रूसी जन-नायक

पुतिन शासन के शुरुआती दौर में रूस अपनी अन्दरूनी समस्याओं में ही उलझा रहा। आर्थिक मन्दी दूर हो गयी थी लेकिन अर्थव्यवस्था मजबूत नहीं बन पायी थी और इसके साथ ही वह सामाजिक-राजनीतिक अस्थिरता का शिकार था। अगस्त 2000 में रूसी पनडुब्बी कुर्स्क में एक विस्फोट हुआ, जिससे वह बाट्र्स सागर के उथले क्षेत्र में डूब गयी। 23 अक्टूबर 2002 को चेचन अलगाववादियों

ने एक मॉस्को थिएटर पर कब्जा कर लिया। अन्दर 700 से अधिक बन्धकों में 100 से अधिक की हत्या कर दी।

निजीकरण की प्रक्रिया में अवैध तरीके से सार्वजनिक सम्पत्ति का बड़ा हिस्सा हथिया लेने वाले प्रभावशाली वित्तपति व्लादिमीर गुसिंस्की, बोरिस बेरेजोव्स्की और मिखाइल खोदोरकोवस्की के खिलाफ पुतिन प्रशासन ने कड़ी कार्रवाई की। गुसिंस्की और बेरेजोव्स्की को रूस छोड़ना पड़ा और खोदोरकोवस्की को जेल भेज दिया गया, उसकी यूयूकेओएस कम्पनी रूस की सबसे बड़ी तेल उत्पादक कम्पनी थी। धोखाधड़ी और कर चोरी के लिए रूस के तत्कालीन सबसे धनी व्यक्ति, युकोस ऑयल एण्ड गैस कम्पनी के अध्यक्ष मिखाइल खोदोरकोव्स्की के खिलाफ पुतिन के अभियान का महत्त्वपूर्ण कारण यह था कि वह पुतिन विरोधी उदारवादी और कम्युनिस्ट नेताओं की आर्थिक मदद कर रहा था। पुतिन ने निजीकरण और पूँजीवाद से परेशान रूसी जनता के सामने इन कदमों को वित्तपतियों के खिलाफ बड़े अभियान के रूप में पेश किया, जिससे उसकी लोकप्रियता में वृद्धि हुई। इसके साथ ही पुतिन सरकार ने देश की मीडिया पर नकेल कस दिया। उन्हें पुतिन विरोधी खबरें दिखाने की इजाजत नहीं दी गयी। उनके पहले शासन काल में वास्तविक जीडीपी प्रति वर्ष औसतन 6.7 प्रतिशत की रफ्तार से बढ़ी, देश की औसत आय में सालाना 11 प्रतिशत की वृद्धि हुई और संघीय बजट के लगातार सकारात्मक सन्तुलन ने सरकार को 70 प्रतिशत बाहरी ऋण में कटौती करने में सक्षम बनाया। 2004 में पुतिन ने रूसी राष्ट्रपति का चुनाव फिर से जीत लिया।

निजीकरण की मार झेल रही रूसी जनता ने सोवियत संघ के विघटन को कभी दिल से स्वीकार नहीं किया और वह हमेशा पछताती रही। जनता की इस भावना को भी पुतिन ने भुना लिया। फरवरी 2004 में पुतिन ने सोवियत संघ के विघटन को "एक बड़े स्तर की राष्ट्रीय त्रासदी" कहा, जिससे "केवल गणराज्य के उच्च वर्ग और राष्ट्रवादी लोगों ने लाभ उठाया।" उन्होंने कहा, "मुझे लगता है कि सोवियत संघ के विघटन से देश के आम नागरिकों को कुछ नहीं मिला। इसके विपरीत बड़ी संख्या में लोगों को समस्याओं का सामना करना पड़ा है।

पुतिन का दूसरा कार्यकाल भी समस्याओं से घिरा रहा। सितम्बर 2004 में बेसलान स्कूल बन्धक संकट हुआ, जिसमें सैकड़ों रूसी मारे गये। 2005 में, रूसी सरकार ने सोवियत-युग के व्यापक लाभों, जैसे-- निःशुल्क परिवहन और कई क्षेत्रों में सब्सिडी को नकद भुगतान द्वारा हटा दिया, जिससे मेहनतकश वर्ग के हितों को बहुत नुकसान पहुँचा। पुतिन का यह कदम बहुत अलोकप्रिय हुआ और विभिन्न रूसी शहरों में विरोध प्रदर्शन की लहर दौड़ गयी। पुतिन प्रशासन के दौरान इस तरह का व्यापक विरोध प्रदर्शन पहली बार हुआ था। इस दौर में भी मीडिया पर अपनी पकड़ के चलते पुतिन अपनी छवि बेहतरीन बनाये रखने में कामयाब रहे। इसके साथ ही रूसी राजनीति में भ्रष्टाचार बढ़ रहा था, जिसे उजागर करने के चलते पत्रकार अन्ना पोलितकोवस्काया को पुतिन के जन्मदिन पर ही उनके अपार्टमेण्ट की इमारत की लॉबी में गोली मार दी गयी थी। राजनीतिक गलियारे में साफ दिख रहा था कि पुतिन अपने विरोधियों का बड़ी निर्ममता से दमन कर रहे थे।

2007 में, विपक्षी समूह 'द अदर रशिया' ने "डिसेण्टर्स मार्च" का आयोजन किया था, इसका नेतृत्त्व पूर्व शतरंज चैंपियन गैरी कास्परोव और राष्ट्रीय-बोल्शेविक नेता एडुआर्ड लिमोनोव ने किया था। कई रूसी शहरों में विरोध प्रदर्शन फैल गया, इसमें 150 से अधिक लोगों को गिरफ्तार किया गया था। विरोध प्रदर्शन की सफलता के पीछे पुतिन की जनविरोधी नीतियों से नाराज जनता के गुस्से का बड़ा हाथ था। पुतिन की लोकप्रियता गिर रही थी और रूस एक बार फिर राजनीतिक संकट के मुँहाने पर खड़ा था। 12 सितम्बर 2007 को, प्रधानमंत्री मिखाइल फ्राडकोव के अनुरोध पर पुतिन ने सरकार को भंग कर दिया। इसके बाद संविधान द्वारा पुतिन को तीसरे राष्ट्रपति कार्यकाल से रोक दिया गया था। पहले उप प्रधानमंत्री दिमित्री मेदवेदेव को उनका उत्तराधिकारी चुना गया था। 8 मई 2008 को, मेदवेदेव को राष्ट्रपति पद सौंपने के एक दिन बाद पुतिन के राजनीतिक प्रभुत्व को बनाए रखते हुए, रूस का प्रधानमंत्री नियुक्त किया गया था। यह सब कवायद पुतिन को सत्ता में रखते हुए जनता को गुमराह करने के लिए की गयी थी।

24 सितम्बर 2011 को मास्को में संयुक्त रूस कांग्रेस में मेदवेदेव ने आधिकारिक रूप से प्रस्तावित किया कि पुतिन 2012 में राष्ट्रपति पद के लिए खड़े होंगे। लेकिन 4 दिसम्बर 2011 को संसदीय चुनावों के बाद, दसियों हजार रूसियों ने चुनाव में धोखाधड़ी के विरोध में बहुत बड़ा विरोध प्रदर्शन किया। वोटिंग में धाँधली के व्यापक आरोपों के बावजूद पुतिन ने 63.6 प्रतिशत वोट के साथ चुनाव जीत लिया। देश में पुतिन विरोधी कई प्रदर्शन हुए।

2012 और 2013 में, पुतिन और यूनाइटेड रशिया पार्टी ने एलजीबीटी समुदाय के खिलाफ सेण्ट पीटर्सबर्ग, आर्कान्जेस्क और नोवोसिबिर्स्क में कड़े कानून का समर्थन किया। इसके बाद पुतिन ने पीछे मुड़कर नहीं देखा। राजनीति के कुशल खिलाड़ी पुतिन ने अपने विरोधियों को रास्ते से हटाने का हुनर सीख लिया। अपने शासन के दौरान किसी भी विरोध और जन-आन्दोलन को उभरने नहीं दिया। देश के वित्तपत्तियों के एक मान्य नेता बने रहे। देश की अन्दरूनी मीडिया को साधे रखा और अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर अमरीकी मीडिया के समानान्तर एक रूसी मीडिया खड़ी करने में सफल रहे। उन्होंने अमरीका की खुफिया एजेंसी सीआईए के स्तर का रूसी खुफियातंत्र विकसित किया। अपने अधीन देशों से निचोड़े गये मुनाफे से रूस की प्रति व्यक्ति आय में वृद्धि की।

दूसरे देशों में हस्तक्षेप और रूस के साम्राज्यवादी मंसूबे

सोवियत संघ के विघटन के बाद, पहले दशक में रूस अपनी अन्दरूनी समस्याओं से ग्रस्त था। उससे अलग हुए तीन बाल्टिक देश एस्टोनिया, लातविया और लिथुआनिया यूरोपीय संघ

और नाटो सदस्यता हासिल करने की ओर आगे बढ़े। बाकी के 12 देशों ने शुरु में अपना अलग 'द कॉमनवेल्थ ऑफ इंडिपेण्डेण्ट स्टेट्स' (सीआईएस) का गठन किया और उसके बाद वे 'द कलेक्टिव सेक्योरिटी ट्रीटी आर्गेनाईजेशन' (सीएसटीओ) में शामिल हो गये। इस संगठन में रूस भी शामिल हो गया। सोवियत संघ के विघटन के आघात से कुछ सम्हलने के बाद रूस की दबी हुई साम्राज्यवादी आकांक्षाएँ उभरकर सामने आने लगी। इसके चलते रूस का यूक्रेन, चेचन्या, जोर्जिया, माल्डोवा, काकेशिया स्थिति जिहादी संगठन जो सीरिया में भी सक्रिय था और सीरिया के विद्रोहियों के खिलाफ टकराव बढ़ गया। उसे ताजिकिस्तानी गृह युद्ध में भी उलझना पड़ा। चेचन्या को छोड़कर बाकी सभी लड़ाइयों में रूस ने जीत हासिल की और उसका मनोबल बढ़ता चला गया। इसका नतीजा यह हुआ कि सोवियत संघ से अलग हुए अधिकांश देशों ने उसके वर्चस्व को स्वीकार कर लिया और उसकी सरपरस्ती में रहने का फैसला किया। लेकिन यह सब अचानक नहीं हुआ, बल्कि तीन दशकों की लम्बी तैयारी और युद्धों के बाद ही हो पाया। विघटन के बाद पहले दशक में उसके लिए अपनी साम्राज्यवादी आकांक्षाओं को पंख लगाना आसान नहीं था। चेचन्या के खिलाफ उसे मुँह की खानी पड़ी थी, जिसके बाद वह सम्हलकर आगे बढ़ा।

1990 के दशक में नवोदित रूसी गणतंत्र ने चेचन्या पर हमला कर दिया था, जो उसके साम्राज्यवादी मंसूबे का प्रमाण है। रूसी गणतंत्र के नेतत्व ने न केवल नग्न पूँजीवाद और निजीकरण को बढ़ावा दिया बल्कि अपने साम्राज्यवादी मंसूबों को हिँसक हमले की दिशा में मोड़ दिया था। उसने अपने आस-पास की राष्ट्रीयताओं पर शिकंजा कस दिया। इसी कड़ी में 1994 में येल्तसिन ने मॉस्को के दक्षिण में 1,600 किमी की दूरी पर स्थित चेचन्या के बारे में काफी खतरनाक फैसला किया। उसने रूस से अलगाव को रोकने के लिए 40,000 सैनिकों को मुस्लिम बाहुल आबादी वाले चेचन्या के दक्षिणी क्षेत्र में भेज दिया। 1991 में चेचन्या के राष्ट्रपति धजोखर दुदायेव ने चेचन्या की स्वतंत्रता की घोषणा कर दी थी। रूस जल्दी ही वियतनाम-अमरीका युद्ध जैसे दलदल में फँस गया। जनवरी 1995 के पहले हफ्तों के दौरान जब रूस ने चेचन्या की राजधानी ग्रोजनी पर हमला किया था, तब चारो ओर से घिरे शहर में सप्ताह भर तक चले हवाई हमलों और तोपखाने की आग के कारण लगभग 25,000 नागरिकों की मौत हो गयी थी। फिर चेचेन बलों ने हजारों रूसियों को बन्धक बना लिया और बीमार रूसी सैनिकों को प्रताड़ित किया। फरवरी 1995 में भारी लड़ाई के बाद रूसियों ने ग्रोजनी पर नियंत्रण पाने में कामयाबी हासिल की। अगस्त 1996 में, येल्तसिन चेचन नेताओं के साथ युद्ध विराम के लिए सहमत हुए और मई 1997 में शान्ति संधि पर औपचारिक रूप से हस्ताक्षर किये गये। हालाँकि, 1999 में संघर्ष फिर से शुरू हो गया, इस तरह 1997 का शान्ति समझौता बेकार हो गया।

चेचन्या विद्रोह को दबाने में रूस की सारी प्रतिष्ठा दाँव पर लगी हुई थी। व्लादिमीर पुतिन ने विद्रोह को कुचलने की हर सम्भव कोशिश की, लेकिन वे इसमें सफल नहीं हो सके। मई 2004 में, चेचन अलगाववादियों ने रूस समर्थक चेचन्या के राष्ट्रपति अकमद कादिरोव की हत्या कर दी। इसके बाद दो रूसी विमानों पर बमबारी की गयी। हार का सामना करते हुए सामयिक तौर पर धीरे-धीरे रूस चेचन्या से पीछे हट गया। इसके बाद 2007 में पूर्व राष्ट्रपति अहमद कादिरोव के बेटे रमजान कादिरोव ने चेचन्या की गद्दी सम्हाल ली और वह पुतिन की कठपुतली की तरह काम करने लगा।

यूक्रेन भी रूस के लिए टेढ़ी खीर बनता जा रहा था। 2004 के यूक्रेनी राष्ट्रपति चुनाव के दौरान पुतिन की अन्तरराष्ट्रीय प्रतिष्ठा को बहुत बड़ा झटका लगा। पश्चिम समर्थक विपक्षी नेता विक्टर युश्चेन्को के खिलाफ रूसी समर्थक विक्टर यानुकोविच चुनाव मैदान में थे। चुनाव में धाँधली के आरोप-प्रत्यारोप के बीच रूस विरोधी विक्टर युश्चेन्को चुनाव जीत गये। इससे यूक्रेन में रूस के प्रभाव का लगभग अन्त हो गया और इसके बाद यूक्रेन ने नाटो की सदस्यता के लिए भी खुलकर अपने इरादों का इजहार किया। जनता नाटो के समर्थन में नहीं थी। लेकिन रूस ने जब 2014 में यूक्रेन पर हमला करके उसके एक इलाके क्रीमिया पर कब्जा कर लिया तो यूक्रेन में रूस विरोधी भावना भडक गयी और जनता ने नाटो के पक्ष में अपना समर्थन जाहिर किया।

सोवियत संघ से अलग होने के बाद यूक्रेन में कई राजनीतिक उथल-पुथल हुए। 22 फरवरी 2014 को, यूक्रेन की रूस समर्थित यानुकोविच सरकार जन-आन्दोलन के दबाव में गिर गयी, रूसी सरकार ने इसका आरोप पश्चिमी देशों पर मढ़ दिया। पुतिन ने अपने सैन्य नेताओं की बैठक में आदेश दिया कि रूसी आबादी बहुल क्षेत्र "क्रीमिया को रूस की ओर वापस लाने के लिए काम शुरू करें।" इसके बाद रूसी सैनिकों ने एक दिन के भीतर क्रीमिया प्रायद्वीप पर पूर्ण नियंत्रण प्राप्त कर लिया। जनमत संग्रह में क्रीमिया और सेवस्तोपोल ने औपचारिक रूप से क्रीमिया गणराज्य के स्वतंत्रता की घोषणा की और अनुरोध किया कि उन्हें रूसी संघ के घटक का दर्जा दिया जाये।

2008 में, कोसोवो ने सर्बिया देश से खुद को अलग कर लिया, इसे भी रूसी हस्तक्षेप के रूप में देखा गया और इसने पश्चिम देशों के साथ रूस के सम्बन्धों को और खराब कर दिया। रूसी सैनिकों ने दक्षिण ओसेशिया में जाकर जॉर्जियाई सैनिकों को खदेड़ दिया, जिससे इस क्षेत्र पर भी उसका नियंत्रण स्थापित हो गया। 2008 में रूस ने एकतरफा दक्षिण ओसेशिया और अबकाजिया की स्वतंत्रता को मान्यता दे दी।

अमरीका और यूरोप के साथ रूस के सम्बन्ध

सोवियत संघ के विघटन के बाद अमरीका और यूरोप (पश्चिमी देशों) के साथ रूस का सम्बन्ध कई उतार-चढ़ावों से गुजर चुका है। विघटन से पहले विश्व व्यवस्था में दो ध्रुव थे-- सोवियत रूस और अमरीका। दुनिया पर वर्चस्व कायम करने के

लिए इन दोनों साम्राज्यवादी देशों के बीच कई दशकों तक शीत युद्ध चला था, लेकिन सोवियत संघ के विघटन के बाद शीत युद्ध का अन्त हो गया और इसी के साथ रूसी साम्राज्यवाद भी विघटित हो गया। लेकिन कहावत है रस्सी जल जाती है, लेकिन उसका ऐंठन नहीं जाता। दुनिया पर अमरीकी वर्चस्व के बीच रूसी साम्राज्यवाद राख के नीचे पड़ी आग की तरह सुलग रहा था। यही वजह है कि रूस कभी पूरी तरह पश्चिम के साथ खड़ा नहीं हो पाया।

शुरू में रूस खुद को आर्थिक और राजनीतिक रूप से खड़ा करने के लिए कठिन संघर्ष कर रहा था। वह अपने लिए नये राजनीतिक मॉडल की तलाश कर रहा था, जिसे उस देश की जनता भी स्वीकार करे। रूस ने मार्गदर्शक सिद्धान्त के रूप में मार्क्सवाद-लेनिनवाद से पीछा छुडाने की कोशिश की। यह वहाँ के उभरते हुए वित्तपतियों की इच्छा के अनुरूप था। लेकिन जनता सोवियत युग की उपलब्धियों को भूलने के लिए तैयार नहीं थी। उस दौर में रूस ने घरेलू और वैश्विक समस्याओं को हल करने के लिए न केवल पश्चिम के साथ सहयोग पर जोर दिया, बल्कि उसने राजनीतिक तौर पर पश्चिम के लोकतांत्रिक मॉडल की नकल करने की कोशिश भी की। लेकिन रूस की जनता ने इसे कभी स्वीकार नहीं किया क्योंकि पश्चिम को खुश करने के लिए वह कभी भी अपने सोवियत अतीत को गाली नहीं दे सकती थी और उसने नग्न-निजी लूटेरे पूँजीवाद को स्वीकार नहीं किया।

हालाँकि, रूसी नेताओं ने पश्चिमी देशों को अपना स्वाभाविक सहयोगी बताया, लेकिन साथ ही वे सोवियत विघटन के बाद बने पूर्वी यूरोपीय देशों में अमरीका और नाटो के बढ़ते प्रभाव से चिंतित थे। 1997 में रूस ने चेक गणराज्य, पोलैण्ड और हंगरी के पूर्व सोवियत ब्लॉक के राष्ट्रों में नाटो के विस्तार का विरोध किया। 1999 में रूस ने यूगोस्लाविया के ऊपर नाटो बमबारी का विरोध किया। लेकिन जून 1999 में वह बाल्कन में नाटो शान्ति-रक्षा बलों में शामिल भी हो गया। जाहिर सी बात है कि शुरू में आन्तरिक रूप से लड़खडाता हुआ रूस पश्चिमी देशों के साथ कोई दुश्मनी मोल लेना नहीं चाहता था। इसके चलते शुरू के दो दशकों में विदेश नीति के मामले में वह पश्चिम का पिछलग्गू ही बना रहा और उसके सामने कोई चुनौती बनकर उभर नहीं पाया। इसके बावजूद अपनी अन्दरूनी नीतियों में वह पूरी तरह स्वतंत्र था और पश्चिम के किसी भी दबाव के आगे झुकने के लिए तैयार नहीं था।

अमरीका के लिए रूस एक ऐसी गाँठ बन गया, जो उसके पक्ष में कभी खुल नहीं पाया। यानी पश्चिम के देशों ने अपनी ओर से भरसक कोशिश की कि रूस अमरीका के नवउदारवादी मॉडल को अपना ले और विश्व बैंक, आईएमएफ और विश्व व्यापार संगठन के सामने समर्पण कर दे, लेकिन थोड़े समय को छोड़ दें, तो यह हो नहीं पाया। पश्चिमी देशों के लिए रूस को एक पल के लिए अनदेखा कर पाना सम्भव नहीं है क्योंकि वह संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिषद का स्थावी सदस्य है, जिसके पास वीटो पॉवर भी है।

सोवियत संघ के विघटन के बाद जब अमरीका एक ध्रुवीय विश्व व्यवस्था का चौधरी बना, तो उसके लिए सबसे बड़ी चिन्ता की बात यह थी कि भविष्य में कोई ऐसा साम्राज्यवादी देश या खेमा उसकी प्रतिद्वन्द्विता में न उतर जाये। इसलिए अपने सम्भावित प्रतिद्वंद्वी को साधना उसके लिए बहुत जरूरी था। 6 पुराने साम्राज्यवादी देश कनाडा, फ्रांस, जर्मनी, इटली, जापान और यूनाइटेड किंगडम आगे चलकर उसके लिए खतरा न बने, इसलिए इन्हें एक ध्रुवीय विश्व व्यवस्था में उचित स्थान देना जरूरी था, जिससे इनके हितों को नुकसान भी न हो। इसी उद्देश्य को पूरा करने के लिए अमरीका के नेतृत्त्व में एक अन्तरराष्ट्रीय अन्तर सरकारी आर्थिक संगठन जी-सात का गठन किया गया। आज भी जी-सात में शामिल देश दुनिया की सबसे बड़ी अर्थव्यवस्थायें हैं और दुनिया भर के साम्राज्यवादी लूट का बहुत बड़ा अधिशेष निचोड़ती हैं। 2018 में इनकी कुल सम्पत्ति 3,17,000 अरब डॉलर थी, जो दुनिया की सम्पत्ति का 58 प्रतिशत है, जबकि इन देशों में दुनिया की मात्र 10 प्रतिशत आबादी रहती है। नवउदारवादी मॉडल में रूस को शामिल करने के लिए 1997 में उसे जी-सात के राजनीतिक मंच से जोड़ दिया गया, जिसे अगले वर्ष जी-आठ के रूप में जाना गया। लेकिन जैसे ही रूस की साम्राज्यवादी महत्त्वाकांक्षाएँ पंख लगाकर उड़ने लगीं और उसका पश्चिम के देशों से टकराव बढ़ता गया, जी-आठ में उसके लिए रह पाना मुश्किल होता चला गया। मार्च 2014 में यूक्रेन-क्रीमिया संकट के बाद अनिश्चित काल के लिए रूस को जी-आठ से निलंबित कर दिया गया। 2017 में रूस ने जी-आठ से स्थायी रूप से निकलने की घोषणा कर दी। इसके बाद रूस को जी-बीस में अन्य विकासशील देशों के साथ रखकर चलाये रखने की कोशिश की गयी। लेकिन जी-बीस में रहकर भी रूस अपने प्रभाव क्षेत्र का लगातार विस्तार करता गया।

यूरोपीय संघ और रूस का सम्बन्ध कई उतार-चढ़ावों का गवाह रहा है। 2003 में इराक पर अमरीकी आक्रमण का रूस ने कड़ा विरोध किया था, जबकि पोलैण्ड और ब्रिटेन सहित यूरोपीय संघ के कुछ सदस्य राज्यों ने अमरीका का समर्थन किया था। रूस, फ्रांस और जर्मनी के विदेश मंत्रियों ने संयुक्त घोषणा की कि वे इराक के खिलाफ संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिषद के प्रस्ताव को पारित करने की "अनुमति नहीं देंगे"। 2009 के रूस-यूक्रेन गैस विवाद ने गैस आपूर्तिकर्ता के रूप में यूरोपीय संघ के सामने रूस की छवि को नुकसान पहुँचाया। 23 मार्च 2009 को यूक्रेन की गैस पाइपलाइनों को अपग्रेड करने के लिए यूक्रेन और यूरोपीय संघ के बीच एक सौदा हुआ था, इससे रूस के आर्थिक हितों को नुकसान पहुँचा, जिसके जवाब में रूसी प्रधानमंत्री व्लादिमीर पुतिन ने यूरोपीय संघ के साथ रूस के सम्बन्धों की समीक्षा करने की धमकी भी दे डाली। सितम्बर 2012 में, यूरोपीय आयोग ने मध्य और पूर्वी यूरोप में रूसी तेल कम्पनी गाजप्रोम के अनुबन्धों में धाँधली से सम्बंधित एक जाँच शुरू की। रूस ने प्रतिक्रिया देते हुए विदेशी जाँच में बाधा डालने वाला कानून ही बना डाला। रूस पर आरोप लगाया गया कि गाजप्रोम कम्पनी ने यूरोपीय संघ के सबसे गरीब

देशों से गैस की ऊँची कीमत वसूल की थी। 2014 में क्रीमिया और दोनबास पर रूसी सैन्य हस्तक्षेप की घोषणा के बाद अमरीका और यूरोपीय संघ ने रूस पर आर्थिक प्रतिबन्ध लगा दिया था, शुरु में 170 व्यक्तियों और 44 संस्थाओं पर वीजा प्रतिबन्ध लगाया गया और इसे सन 2020 तक बढ़ा दिया गया।

रूस यूरोपीय संघ के देशों विपक्षी पार्टियों, आन्दोलनों और वित्तपतियों को मदद उपलब्ध करवाता रहा है। लेबर पार्टी के पूर्व नेता जेरेमी कॉर्बिन पर रूस समर्थक होने का आरोप भी लगा था। इसके साथ ही रूस यूरोप के देशों में अपनी खुफिया और साइबर गतिविधियाँ भी चलाता है। यूरोप के कई देश की सरकारें रूस से सहानुभूति रखती हैं। आर्थिक मन्दी, अन्दरूनी कलह और हितों के टकराव तथा रूसी प्रभाव के चलते यूरोपीय संघ अन्दर से काफी कमजोर हो गया है और कई टुकड़ों में टूट भी सकता है। स्पष्ट है कि पूरा यूरोपीय संघ रूस के साथ कभी खड़ा नहीं होगा, इसलिए रूस चाहेगा कि यूरोपीय संघ में दरार पड़ जाये और उसका एक बड़ा हिस्सा रूस के साथ खड़ा हो जाये। हवा भी इसी दिशा की ओर अपना रुख बदल रही है।

तुर्की का अमरीकी खेमे से रूस की ओर जाना

तुर्की अमरीका समर्थित नार्थ अतलान्तिक ट्रीटी आर्गेनाईजेशन (नाटो) का सदस्य देश है। लेकिन 2015-16 में घटी उथल-पुथल भरी घटनाओं के बाद तुर्की धीरे-धीरे अमरीका से दूर होता चला गया। रूस ने इसका फायदा उठाते हुए उसे अपनी ओर खींच लिया। दरअसल सीरिया का युद्ध अमरीका के लिए गले की हड्डी बन गया था। सीरिया की बसर-अल असद की सरकार को रूस का समर्थन प्राप्त था और रूस मध्य-एशिया में अपने विश्वसनीय मित्र को खोना नहीं चाहता था। दूसरी ओर अमरीका असद सरकार के खिलाफ लड़ रहे विद्रोहियों और कुर्द लड़ाकों की मदद कर रहा था, जो तुर्की को रास नहीं आ रहा था क्योंकि तुर्की के बड़े भूभाग पर कुर्द आबादी निवास करती है, जो सीरिया से सटा हुआ है। कुर्द विद्रोही आगे चलकर तुर्की की एकता के लिए खतरा बन सकते थे, इसलिए तुर्की की एर्दोगन सरकार नहीं चाहती थी कि अमरीका कुर्द लड़ाकों की मदद करे। लेकिन उसके साझीदार अमरीका ने उसकी इच्छा को ठुकराते हुए कुर्द लड़ाकों की मदद की। इस तरह सीरियाई युद्ध में तुर्की स्वभाविक रूप से असद सरकार और रूस के सहयोगी के तौर पर सामने आया। इससे अमरीका बहुत खफा हुआ। इसके बाद अमरीका ने अपनी खुफिया एजेंसी सीआईए और तुर्की के विपक्षी नेता फेथुल्लाह गुलेन की मदद से अर्दोगन को सत्ता से उखाड़ फेंकने का अमरीका षड्यंत्र रचा, जो असफल हो गया और जिसका खुलासा होने पर तुर्की अमरीकी खेमे से दूर होता चला गया।

24 नवम्बर 2015 को सीरिया के राष्ट्रपति बशर अल-असद के समर्थन में रूसी सैन्य हस्तक्षेप की शुरुआत हुई थी क्योंकि सीरिया में सरकार की हार के बाद मध्य पूर्व से यूरोप तक रूसी हाइड्रोकार्बन पाइपलाइन परियोजना खटाई में पड़ जाती, जो रूसी तेल कम्पनी गजप्रोम के लिए विनाशकारी होती। लेकिन तुर्की ने "सम्भवतः गलती से" तुर्की-सीरिया सीमा के करीब रूसी एसयू-24 विमान को मार गिराया। एर्दोगन ने पुतिन से इसके लिए खेद व्यक्त भी किया था। लेकिन इसका अधिक फायदा तुर्की को नहीं मिला। रूसी राष्ट्रपति व्लादिमीर पुतिन ने इस घटना को "आतंकवादियों के सहयोगियों द्वारा पीठ में छुरा घोंपने" के रूप में जिक्र किया। रूस ने तुर्की पर कई आर्थिक प्रतिबन्ध लगाए। इनमें तुर्की के नागरिकों के लिए रूस से वीजा-मुक्त यात्रा को निलंबित करना, तुर्की के निवासियों और रूस में व्यापार करने वाली कम्पनियों और तुर्की के उत्पादों के आयात पर प्रतिबन्ध शामिल हैं। विमान गिराए जाने के एक दिन बाद, रूसी कानून निर्माता सर्गेई मिरोनोव ने रूसी संसद में एक विधेयक पेश किया, जो अर्मेनियाई नरसंहार को स्वीकार न करने के लिए तुर्की को जिम्मेदार ठहराता था। तुर्की ने फ्रांस और यूनान द्वारा ऐसे ही कदमों को उठाने का कड़ा विरोध किया।

जून 2016 के बाद तुर्की और रूस के रिश्ते सामान्य होने लगे थे। 29 जून को पुतिन और एर्दोगन ने टेलीफोन पर लम्बी बातचीत की, जिसे रूसी और तुर्की सरकार के अधिकारियों ने बहुत सफल बताया था। रूसी सरकार ने बाद में तुर्की जाने वाले रूसी नागरिकों के ऊपर से यात्रा प्रतिबन्ध हटा दिया और व्यापार सम्बन्धों को सामान्य बनाने का आदेश दिया। इससे दोनों देशों के बीच सम्बन्ध सुधरने शुरू हो गये। रूस के युद्धक विमान घटना और तुर्की में एर्दोगन के असफल तख्तापलट की कोशिश के बाद पहली बार 9 अगस्त 2016 को दोनों देशों के नेताओं ने सेण्ट पीटर्सबर्ग में एक बैठक की।

19 दिसम्बर 2016 को तुर्की में रूसी राजदूत आन्द्रेई कार्लोव की हत्या के बाद दोनों देशों के सम्बन्धों को किसी भी सम्भावित नुकसान से बचाने की कोशिश की गयी। उसी समय दोनों देशों ने ईरान के साथ मिलकर सीरियाई मसले पर शान्ति समझौते के लिए 'अस्ताना शान्ति वार्ता' शुरू की। 31 मई 2017 को रूस ने तुर्की पर लगाए गये अधिकांश प्रतिबन्धों को हटा दिया, जिसमें रूस में चल रही तुर्की कम्पनियों पर प्रतिबन्ध और तुर्की श्रमिकों को रोजगार देने पर प्रतिबन्ध भी समाप्त हो गया। रूसी राष्ट्रपति पुतिन ने दोनों देशों के बीच वीजा-मुक्त आवागमन के द्विपक्षीय समझौते को बहाल कर दिया।

जून 2018 में तुर्की के अनुरोध पर रूसी सरकार द्वारा नियंत्रित समाचार एजेंसी स्पुतनिक की कुर्द भाषा में वेबसाइट को बन्द कर दिया गया। अगस्त 2018 के मध्य में, रूस और तुर्की ने अमरीका के साथ चल रहे विवादों में एक दूसरे का समर्थन किया। तुर्की ने क्रीमिया मामले में रूस का समर्थन किया और अमरीकी चुनावों में हस्तक्षेप को लेकर रूस पर अमरीकी प्रतिबन्धों का विरोध किया। जनवरी 2019 में दोनों देशों ने संकट के समय वेनेजुएला के राष्ट्रपति निकोलस मादुरो के शासन का समर्थन किया।

तुर्की यूरोप से सटा हुआ एशिया के मुहाने पर खड़ा एक महत्त्वपूर्ण देश है। 8.30 करोड़ की जनसंख्या वाले इस देश की जीडीपी लगभग 800 अरब डॉलर है और इसका मानव विकास सूचकांक काफी ऊँचा है। धरती के भू-रणनीतिक इलाके में तुर्की जैसे सहयोगी देश को पाकर रूस की दबी हुई साम्राज्यवादी महात्वाकांक्षा को जैसे पंख लग गये। रूस ने मध्य-एशिया में अपने वर्चस्व को बढ़ाने के लिए एड़ी-चोटी का जोर लगाना शुरू कर दिया। अमरीका के खिलाफ ईरान और सीरिया की मदद करके रूस ने उसे अपने पक्ष में खड़ा कर लिया। अमरीका द्वारा ईरानी कमाण्डर सुलेमानी और अन्य ईराकी सैन्य अफसरों की हत्या के बाद रूस ने ईराक से भी नजदीकी बढ़ा ली। ईरान और तुर्की के जरिये कतर और यमन के विद्रोहियों की मदद करके इस इलाके में अमरीका समर्थित इजराइल और सऊदी अरब को पीछे धकेल दिया। अफगानिस्तान में छिपे तौर पर तालिबानियों की मदद करके वह अमरीकी सैनिकों को अफगानिस्तान छोड़ने के लिए मजबूर कर रहा है। मौजूदा हालात में रूस की मध्य एशिया पर पकड़ काफी मजबूत बन चुकी है।

चीन के साथ रूस के दोस्ताना रिश्ते

रूस ने चीन के साथ अपने सम्बन्धों को धीरे-धीरे सुधारा। शुरू में विघटित रूस कमजोर था और चीन भी वैश्विक पैमाने पर ऊभर रहा था। चीन ने नवउदारवादी नीतियों का फायदा उठाते हुए खुद को विकास की दौड़ में सबसे आगे रखा। विश्च अर्थव्यवस्था का इंजन कहा जाने वाला चीन भी रूस के लिए एक बड़ा खतरा बन सकता था। दोनों देशों के बीच लम्बी सीमा रेखा है और उनमें सीमा विवाद भी था। दोनों एक दूसरे पर सन्देह भी करते थे। रूस को लगता था कि एशिया में चीन उसका प्रतिद्वन्द्वी हो सकता है या उसकी महत्त्वाकांक्षाओं पर विराम लगा सकता है। इन परिस्थितियों में अमरीकी नेतृत्व वाली विश्व व्यवस्था में दोनों ही बड़ी ताकत बनने का सपना देखते थे, लेकिन दोनों यह भी समझते थे कि एक-दूसरे से टकराकर वे केवल अपनी शक्ति को नष्ट कर देंगे, इसलिए दोनों ने सावधानीपूर्वक एक दूसरे की ओर दोस्ती का हाथ बढ़ाया। दोनों ने अच्छे-पड़ोसी और मैत्रीपूर्ण सहयोग की संधि पर हस्ताक्षर किया और साथ-साथ ट्रांस-साइबेरियाई तेल पाइपलाइन के निर्माण की ओर कदम बढ़ाया। इस तरह अपने बीच के सीमा विवाद को सुलझा लिया। आज रूस-चीन सीमा पर तनाव का कोई भी लक्षण नहीं है। इसने दोनों देशों को फायदा पहुँचाया।

इसके साथ ही जहाँ एक ओर रूस के पास पेट्रोलियम और कच्चे माल का अकूत भण्डार है तथा उसकी तकनीक और युद्ध सामान बेहद विकसित हैं, लेकिन रूस के पास बड़ा बाजार नहीं है और जनसंख्या सीमित होने के चलते देश के अन्दर भी उपभोक्ताओं की संख्या कम है। दूसरी ओर चीन के पास एक बड़ा घरेलू बाजार है और पिछले दशकों में उसके उपभोक्ता मालों से दुनिया के बाजार पट गये। इस तरह करीब आने वाले दोनों देश व्यापार के मामले में भी एक-दूसरे के पूरक हो गये। चीन अपनी पेट्रोलियम जरूरत के बड़े हिस्से की पूर्ति रूस से आयात करके करता है। इसके साथ ही रूस अपनी उन्नत युद्ध सामग्री भी चीन को उपलब्ध करवाता है।

रूसी वर्चस्व का दुनिया पर पड़ने वाले प्रभाव का आँकलन करने के लिए चीनी ताकत को उसके साथ जोड़कर देखा जाना चाहिए। दोनों देश लम्बे समय से अलग-अलग मुद्दों पर अमरीका से उलझे हुए हैं। कहावत है कि दुश्मन का दुश्मन दोस्त होता है। इस हिसाब से रूस और चीन स्वभाविक रूप से दोस्त हैं। चीन के वन बेल्ट एण्ड वन रोड (ओबोर) परियोजना में रूस बहुत बड़ा सहयोगी है, जो इस सदी की सबसे बड़ी परियोजना है। विशेषज्ञ बताते हैं कि इसकी सफलता के बाद चीन एक बहुत बड़ी वैश्विक शक्ति बनकर उभरेगा। हालाँकि विश्व स्तर की बात करें तो चीन अभी एक क्षेत्रीय ताकत है, लेकिन वह न केवल अर्थव्यवस्था के क्षेत्र में आगे बढ़ रहा है, बल्कि दुनिया भर के कई देशों के साथ व्यापारिक और रणनीतिक रिश्ते भी बना रहा है। उसने दक्षिणी चीन सागर में अपनी सैन्य कारवाईयों का विस्तार करके इस इलाके पर अपना प्रभुत्व कायम कर लिया है। लातिन अमरीका और अफ्रीका के कई देश उसके प्रभाव में हैं।

निष्कर्ष

आज भी अमरीका दुनिया का सबसे ताकतवर साम्राज्यवादी देश है और दुनिया की जनता का दुश्मन नम्बर एक है, लेकिन उसकी ताकत का पराभव हो रहा है। दूसरी ओर रूस एक वैश्विक ताकत के तौर पर उभर चुका है। अपने वर्चस्व के विस्तार के लिए रूस और चीन दोनों ने कोरोना महामारी का भरपूर इस्तेमाल किया है। इसके चलते अपनी महात्वाकांक्षा को तेजी से पूरा करने का जबरदस्त मौका उन्हें हाथ लगा, जबकि खुद अमरीका कोरोना से बुरी तरह परेशान है। रूस पूर्वी यूरोप और मध्य एशिया में अमरीका के साथ टकराव की स्थिति में है। मन्दी की मार से त्रस्त अमरीका किसी भी हालत में रूस से सीधे टकराना नहीं चाहता क्योंकि वह जानता है कि ऐसे किसी टकराव का अन्त अमरीकी साम्राज्य के पूर्ण पतन में भी हो सकता है। रूस पर अमरीका और यूरोपीय संघ द्वारा लादा गया प्रतिबन्ध भी रूस के सरपट दौड़ते घोड़े को रोक न सका। ऐसे अनुकूल हालात का फायदा उठाते हुए आत्म-विश्वास से लबरेज रूस अपना विस्तार करता जा रहा है। इसके साथ ही नया-उभरता चीन भी आर्थिक विकास के कुलांचे मार रहा है, जिसके भौगोलिक विस्तार को रोक पाने में अमरीका नाकाम है। ऐसे में दुनिया के दूसरे देश भी अमरीकी वर्चस्व से आजाद होकर अपनी शर्तों पर व्यापार और साझेदारी करना चाहेंगे। यूरोपीय संघ के अन्दर टकराव बढ़ता जा रहा है। हो सकता है कि वह अन्दर से टूट जाये। ऐसी नयी विश्व परिस्थिति में वर्ग शक्ति सन्तुलन जरूर बदलेगा। साम्राज्यवादी एक-दूसरे से टकराकर अपनी ताकत कमजोर कर लेंगे और आने वाला दशक जन-संघर्षों के अधिक अनुकूल होगा।